गगनाञ्चल

वर्ष 21 अंक 1 जनवरी-मार्च 1998

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशक

हिमाचल सोम

महानिदेशक

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक

कन्हैयालाल नन्दन

सहयोगी संपादक

अजय कुमार गुप्ता, प्रेम जनमेजय (मानसेवी)

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्‌भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त सात त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है, जो हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेजी (*इंडियन होराइजन्स और अफ्रीका क्वार्टरली*), अरबी (*सक़ाफ़त-उल-हिंद*), स्पेनिश (*पपलेस दे ला इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौंत्र अवेक लैंद*) और जर्मन (*इंडियन इन डेर जेजनवार्ट*) भाषाओं मे है। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक '*गगनाञ्चल*' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नयी दिल्ली-110002

शुल्क दरें

एक अंक	*वार्षिक*	*त्रैवार्षिक*
रु. 25.00	रु. 100.00	रु. 250.00
US$ 10.00	US$ 40.00	US$ 100.00
£4.00	£ 16.00	£40.00

ISSN 0971–1430

आवरण : जितेंद्र कुमार

मुद्रक : विमल ऑफसेट, 1/11804, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रकाशक की ओर से

महाश्वेता देवी बांङ्ला साहित्य की ही नही सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इनके साहित्य में आम आदमी का दर्द है। इनकी पहली पुस्तक 1956 में प्रकाशित हुई थी। तब से आज तक इनके लेखन का काम रुका नही है। लेखन को अपने जीवन का ध्येय बनाने वाली और उसके माध्यम से अभावग्रस्त मानव का दर्द व्यक्त करने वाली भारतीय कथा साहित्य की इस महान लेखिका की एक कहानी और डॉ. रणजीत साहा से उनकी बातचीत को इस अंक में हम विशेष रूप से गगनांचल के पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं। भारतीय-साहित्य से जुड़े महान साहित्यकारों और चितकों से सम्बन्धित, इस प्रकार के आयोजन हमारे आगामी अंकों में भी किए जाएंगे।

अपने साक्षात्कार में महाश्वेता देवी ने कहा है—दरअसल मुझे मनुष्य ने, आम आदमी के प्रश्नों ने लेखन और फिर आन्दोलन के लिए प्रेरित किया। अनपढ़ आदिवासियों और अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा ही मेरी शक्ति बनी। मैं उनकी कलम बन गई—निहत्थे, निरुपाय और 'वॉईसलेस' लोगों की। इस **"वॉईसलेस सेक्शन ऑफ दि सोसाइटी"** ने मुझे, मेरे संकल्प को हथियार थमा दिए। और साहित्य का पाठक ही नही आम आदमी भी जानता है कि इस हथियार का महाश्वेता देत्री ने कितना सार्थक प्रयोग किया है। उपभोक्तावादी संस्कृति में इस तरह का मानवीय प्रेम और मानव के उत्थान के लिए निस्वार्थ श्रम कितने लोगों में देखने को मिलता है। ऐसी रचनाएं ही साहित्य का सच्चा धर्म—जिसमें हित का भाव निहित हो—निभाती हैं। आशा है हमारे पाठकों को इस महान लेखिका से लिया गया साक्षात्कार और संताल विद्रोह से जुड़ी हुई उनकी कहानी **"हुल...हुल"** सत्यम, शिवम् तथा सुंदरम् से युक्त मानवीय समाज के निर्माण के लिए अपना स्वर मिलाने को प्रेरित करेगी।

हिमाचल सोम

महानिदेशक

संपादक की ओर से

अपनी पहचान की तलाश में निरंतर चितन, वैचारिक परिवेश के निर्माण और बेहतर मानवीय भविष्य की आशा में प्रयत्नशील रहना एक बुद्धिजीवी की विवशता है। जहां विश्व के अन्य सामान्यजन वर्तमान में जीते हैं और हद से हद स्वर्णिम भविष्य की आकांक्षा पाले स्वार्थों में लिप्त निजी जीवन जीते हैं, वही एक बुद्धिजीवी निस्वार्थ भाव से, अतीत वर्तमान और भविष्य के अनिश्चित परिवेश में घूमता हुआ स्वस्थ मानव-समाज की आकांक्षा में दुबला होता रहता है। वह जीवन को एक कोण से नही देखता है। अपने आज को समझने के लिए वह अतीत के अंधेरे में उजाले के अर्थ ढूंढता है। उसका विश्वास है कि हमारे आज की इमारत, हमारे अतीत की भूमि पर खड़ी है। इसी प्रक्रिया को बाल्मीकि प्रसाद सिह के चितनपरक लेख में देखा जा सकता है। मानवीय समाज को समझने के लिए इतिहास की आवश्यक भूमिका को नजरअंदाज नही किया जा सकता है। लेखक ने अनेक तथ्यों और उदाहरणों से अपनी बात को बड़े ही सहज रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह बाल्मीकि प्रसाद सिह की आत्मीय शैली की विशेषता है कि गूढ़ से गूढ़ चितनपरक क्षण सहज होकर पाठक की सोच का हिस्सा बन जाते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि यह लेख गगनांचल के पाठकों को चितन की एक नई दिशा देगा। इस विषय पर यदि आपके अपने विचार भी हमे मिलें, तो उन्हें प्रकाशित कर हमें विशेष प्रसन्नता का अनुभव होगा।

पाठक अपने जिस लेखक को पसन्द करता है, उसकी रचनाओं को खोज-खोजकर तो पढ़ता ही है, उसके बारे में भी जानने को उत्सुक रहता है। सृजनात्मक लेखक के विचार उसकी रचनाओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होते ही हैं परन्तु अनेक बार अनेक विषयों पर रचनाकार लेख और साक्षात्कार के माध्यम से अपने पाठक से सीधे सम्बोधित होता है। एक लेखक के वैचारिक दृष्टिकोण को समझने के यह दो अलग-अलग माध्यम हैं और दोनों की अपनी भूमिका है। भारतीय साहित्य के विशिष्ट लेखकों को उनकी इस दोहरी भूमिका में प्रस्तुत करने के लिए हम गगनाञ्चल के वर्तमान

अंक से एक नया 'आयोजन' आरम्भ कर रहे हैं, और इस अंक का शुभारम्भ हम कर रहे हैं बांग्ला साहित्य की सुप्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी से । आशा है हमारा यह विशिष्ट आयोजन आपको पसन्द आएगा ।

कन्हैयालाल नंदन
संपादक

अनुक्रम

साक्षात्कार

कविताएं

संस्मरण

समीक्षा

गतिविधियाँ

मॉरीशस के पाठकों की ओर से

गगनाञ्चल पत्रिका का स्वर्ण जयन्ती विशेषांक देखा, चाव से पढ़ा। अति सुन्दर है। भारत और आस-पास के देशों में जो कुछ हुआ, सुख या दुख उन सबको झेलकर या अनुभव करके ही हमारे होनहार लेखकों और कवियों ने इस स्वर्ण जयन्ती विशेषांक में लिखा और संवारा है, जो स्तुत्य है।

आशा है, उनके वे अनुभव भारतीय हिन्दी प्रेमी पढ़ प्राप्त कर सकेंगे कि अब से क्या करना चाहिए ? जिससे कि एकत्व की भावना के साथ अपनी संस्कृति, भाषा और सभ्यता की रक्षा करके प्रचार-प्रसार भी कर सकेंगे।

जो कुछ हमारे पूर्वजों ने झेला, इस अंक को पढ़ करके संसार की सभी दिशाओं के भारतीय अनुभव कर पायेंगे और भविष्य के लिए वे भी चलने का पूरा प्रयत्न कर पायेगे। वे और उनके बच्चे हमेशा सावधान हो पायेंगे। भारत राष्ट्र का मान-सम्मान बढ़ा पायेंगे। फ़ीज़ी, गुयाना, सूरीनाम, नेपाल, मॉरीशस में भारतीयों की बड़ी संख्या देखने का शुभावसर मुझे मिल पाया है।

गत 50 वर्षों के अन्दर, प्रगति कैसे आई और किन-किन कठिनाइयों को झेलते हुए आई, इसकी पूरी जानकारी हमारे जवानों को मिलेगी और पूर्व इतिहास द्वारा भी काफ़ी बातों का परिचय वे प्राप्त कर पावेंगे।

इस अंक को देखते हुए गांधी, पटेल, जवाहर, बोस, राजेन्द्र प्रसाद, आज़ाद आदि शहीदों की याद अनायास ही मन को धक्का देती है।

इस अंक की सभी सुन्दरतम खोजपूर्ण रचनाओं के लिए हम सम्पादक महोदय श्री कन्हैयालाल नन्दन जी को और सभी रचनाकारों को सहृदय बधाई कर रहे हैं।

यदि इसी अंक में, मॉरीशस के लेखकों को भी रचनाएं भेजने का मौका दिया जाता तो सोने पे सुहागे का-सा कार्य होता।

स्वर्ण जयन्ती विशेषांक में छपे कितने ऐसे लेखक और कविगण हैं, जिनसे मुझे मॉरीशस में होने वाले विश्व हिन्दी सम्मेलनों में, रामायण सम्मेलन में, हिन्दू परिषद द्वारा

आयोजित सम्मेलन में, जो अन्य देशों में आयोजित किये गये हैं, उनसे मिलने और बातें करने का शुभावसर प्राप्त हुआ है।

अब तक मुझे विश्व के 50 देशों में जाने का, वहाँ की जनता से मिलने का शुभावसर प्राप्त हुआ। वे भारत और वहाँ की जनता का प्यार अपने दिल में संजोये हैं। भारत भूमि को देखने के लिए वे तरसते हैं पर क्या करें।

सम्पादक मंडल के अन्य महानुभावों के प्रति आभारी हूँ।

—*पंडित धर्मवीर घूरा*
प्रधान, मॉरीशस हिंदी लेखक संघ

भारतीय उच्चायोग, इंदिरा गांधी भारतीय संस्कृति संस्थान द्वारा *गगनाञ्चल* की एक प्रति मिली। यह गगगनाञ्चल खासकर भारत की आज़ादी का स्वर्ण जयन्ती विशेषांक है।

भारत जैसे विशाल देश का अहिसात्मक रूप से स्वतंत्रता पा लेना सहज एवं साधारण बात नही लेकिन इससे भी आवश्यक और कठिन बात है, इस आज़ादी को संजोए रखना।

जब भारत को आज़ादी मिली थी, तो हम मॉरीशस वासी कितने गद्‌गद हुए थे, इसका कोई ठिकाना न था। मॉरीशस में रहने वाले प्रत्येक भारतीय का दिल हर्ष और उल्लास से भर गया था। हमने तो अपना यूनियन जैक नही निकाला था पर देश-भर में तिरंगा फहराया था, मानो मॉरीशस ही आज़ाद हुआ हो। और हर साल 15 अगस्त को, हम भारत का स्वतंत्रता दिवस बड़ी धूमधाम से मनाने लगे। यह इसलिए कि हमेशा से भारत और मॉरीशस के बीच एक गहरा और अटूट संबंध रहा है। भारत के बाहर मॉरीशस ही एक ऐसा देश है, जहाँ बहुत संख्या में भारतीय लोग रहते हैं।

भारत की स्वतंत्रता के बीस साल बाद हम मॉरीशस वासी परतंत्रता के बंधन से मुक्त हुए। 12 मार्च 1968 को, दिन के ठीक बारह बजे यूनियन जैक उतारकर अपना चौरंगा फहराया था। वह कितना गर्वान्वित दिन था !

इस साल हम जगह-जगह पर, सभा और समाज में तथा संस्थाओं में, एक ओर भारत की आज़ादी की स्वर्ण-जयन्ती मना रहे हैं तो दूसरी ओर मॉरीशस की स्वतंत्रता की तीसवी वर्षगांठ मनाने की तैयारी में जीतोड़ लगे हुए हैं।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के प्रकाशक, संपादक एवं संचालक लोगों से मेरा एक विशेष अनुरोध है। संसार में, भारत से बाहर बसे हुए लगभग बाईस करोड़ भारतीय लोग हैं। यदि उनके बारे में, उनके रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, कला-संस्कृति, दर्शन तथा धर्म के बारे में गगनाञ्चल एक विशेष अंक निकालता तो सोने में सुहागा होता

एवं पाठकों के लिए एक नई उपलब्धि होती।

गगनाञ्चल एक बहुत बढ़िया प्रकाशन है, जो हिन्दी और हिन्दुत्व को सब दिशाओं में समेट लेता है। इस प्रशंसनीय प्रकाशन के लिए मेरी ओर से बहुत-बहुत बधाई। पूर्ण आशा है, यह हमेशा फूले-फले और प्रगति की राह पर चले।

—श्रीमती सतीअवतू जगहमोहन
मॉरीशस

गगनाञ्चल का विशेषांक कई कारणों से पठनीय एवं संग्रहणीय है। इसमें भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की एक झलक के साथ ही विगत पचास सालों में साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, शिक्षा आदि क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों एवं उपलब्धियों का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है, वह काफी ज्ञानवर्द्धक है।

सम्पादक मण्डल द्वारा रचना चयन सराहनीय है। इसमें संकलित कहानियाँ एवं कविताएँ अच्छी लगी। डॉ. कुंअर बेचैन ने आत्मकथा शैली मे जो *गीत का बयान* लेख प्रस्तुत किया है, वह प्रभावशाली बन पड़ा है। इसी तरह हिन्दी साहित्य से संबंधित अन्य लेख पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

अच्छा होता, अगर इसमें "भारतीय स्वतंत्रता तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत का प्रवासी हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" आदि विषयों पर विदेशी हिन्दी लेखकों की प्रतिक्रियाओं को स्थान दिया जाता।

कुल मिलाकर यह विशेषांक उत्तम बन पड़ा है।

मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

—डॉ. मुनीश्वर लाल चिन्तामणि
अध्यक्ष, हिन्दी संगठन (मॉरीशस)

पिछले अंक में हमने गगनाञ्चल के स्वर्ण जयन्ती विशेषांक पर कुछ पाठकों की प्रतिक्रियाएं प्रकाशित की थी। इस विशेषांक पर अभी भी हमें अनेक पत्र प्राप्त हो रहे हैं। विदेशों में रहने वाले हमारे पाठकों ने भी अनेक पत्र लिखे हैं, उनमें से कुछ को इस अंक में प्रकाशित करने का लोभ-संवरण हम नही कर पा रहे हैं।

—संपादक

विशेष

अटल बिहारी वाजपेयी की कविताएं

*सजग राजनेता, संवेदनशील कवि। सहज स्वर देश भक्तिपूर्ण शौर्य का। कविता में करुणा, वेदना, प्रेरणा और शौर्य का इंद्रधनुषी रंग **'मेरी इक्यावन कविताएं'** किताबघर से प्रकाशित।*

ऊँचाई

ऊँचे पहाड़ पर,
पेड़ नहीं लगते,
पौधे नही उगते,
न घास ही जमती है।

जमती है सिर्फ बर्फ,
जो कफन की तरह सफेद और
मौत की तरह ठंडी होती है।
खेलती, खिलखिलाती नदी,
जिसका रूप धारण कर
अपने भाग्य पर बूँद-बूँद रोती है।

ऐसी ऊँचाई,
जिसका परस,
पानी को पत्थर कर दे,
ऐसी ऊँचाई
जिसका दरस हीन भाव भर दे,
अभिनन्दन की अधिकारी है,
आरोहियों के लिए आमंत्रण है,
उस पर झण्डे गाड़े जा सकते हैं,

किंतु कोई गौरैया,
वहाँ नीड़ नहीं बना सकती,
न कोई थका-माँदा बटोही,
उसकी छाँव में पलभर पलक ही झपका सकता है ।

सच्चाई यह है कि
केवल ऊँचाई ही काफी नहीं होती,
सबसे अलग-थलग
परिवेश से पृथक,
अपनों से कटा-बँटा,
शून्य में अकेला खड़ा होना,
पहाड़ की महानता नही,
मजबूरी है ।
ऊँचाई और गहराई में
आकाश-पाताल की दूरी है ।

जो जितना ऊँचा,
उतना ही एकाकी होता है,
हर भार को स्वयं ही ढोता है,
चेहरे पर मुस्कानें चिपका,
मन ही मन रोता है ।

जरूरी यह है कि
ऊँचाई के साथ विस्तार भी हो,
जिससे मनुष्य
ठूँठ-सा खड़ा न रहे,
औरों से घुले-मिले,
किसी को साथ ले,
किसी के संग चले ।

भीड़ में खो जाना,
यादों में डूब जाना,

स्वयं को भूल जाना,
अस्तित्व को अर्थ,
जीवन को सुगन्ध देता है।

धरती को बौनों की नहीं,
ऊँचे कद के इंसानों की जरूरत है।
इतने ऊँचे कि आसमान को छू लें,
नये नक्षत्रों में प्रतिभा के बीज बो लें,

किंतु इतने ऊँचे भी नही,
कि पॉव तले दूब ही न जमे,
कोई कॉटा न चुभे,
कोई कली न खिले।

न वंसत हो, न पतझड़,
हो सिर्फ ऊँचाई का अंधड़,
मात्र अकेलेपन का सन्नाटा।

मेरे प्रभु!
मुझे इतनी ऊँचाई कभी मत देना
गैरों को गले न लगा सकूँ
इतनी रुखाई कभी मत देना।

कौरव कौन, कौन पाण्डव

कौरव कौन
कौन पाण्डव,
टेढ़ा सवाल है।
दोनों ओर शकुनि
का फैला
कूट जाल है।

धर्मराज ने छोड़ी नहीं
जुए की लत है।
हर पंचायत में
पांचाली
अपमानित है।
बिना कृष्ण के
आज
महाभारत होना है,
कोई राजा बने,
रंक को तो रोना है।

न मैं चुप हूँ, न गाता हूँ

सवेरा है, मगर पूरब दिशा में घिर रहे बादल,
रुई से धुँधलके में मील के पत्थर बड़े घायल,
ठिठके पॉव,
ओझल गॉव,
जड़ता है न गतिमयता,
स्वयं को दूसरों की दृष्टि से मैं देख पाता हूँ।
न मैं चुप हूँ, न गाता हूँ।
समय की सर्द सॉसों ने चिनारों को झुलस डाला,
मगर हिमपात को देती चुनौती एक द्रुममाला,
बिखरे नीड़,
विहँसी चीड़,
ऑसू हैं न मुस्कानें,
हिमानी झील के तट पर अकेला गुनगुनाता हूँ।
न मैं चुप हूँ, न गाता हूँ।

गीत नया गाता हूँ

टूटे हुए तारों से फूटे वासन्ती स्वर,
पत्थर की छाती में उग आया नव अंकुर,

झरे सब पीले पात,
कोयल की कुहुक रात,
प्राची में अरुणिमा की रेक देख पाता हूँ।
गीत नया गाता हूँ।
टूटे हुए सपने की सुने कौन सिसकी ?
अन्तर को चीर व्यथा पलकों पर ठिठकी।
हार नहीं मानूँगा,
रार नई ठानूँगा,
काल के कपाल पर लिखता-मिटाता हूँ।
गीत नया गाता हूँ। □

समाज को समझने में इतिहास की भूमिका

बाल्मीकि प्रसाद सिंह

इतिहास किस प्रकार लिखा जाता है ? क्या बहुत-सी विधियां हैं, जिनके द्वारा अतीत की रचना की जा सकती है अथवा एकमात्र विधि है, जिसके द्वारा वह लिखा जा सकता है या लिखा जाना चाहिए। इतिहास और विचारधारा के बीच क्या सम्बन्ध है ? और किस प्रकार इतिहास और विचारधारा का यह सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ इतिहास की अवधारणा को मापता है, यदि वस्तु निष्ठता किसी प्रकार सम्भव हो? क्या समाज के भविष्य को आकार देने में इतिहास की कोई भूमिका होती है और यदि ऐसा है तो इस नैरंतर्य में यह कौन-सी सुनिश्चित भूमिका अदा करता है।

कोई भी अनुसंधान, जो इतिहास और समाज के सम्बन्धों के बारे मे विचार करना चाहता है, प्रथमतः यह आवश्यक है कि हम कुछ शब्द इस बारे में कहें कि 'इतिहास' और 'समाज' से हमारा क्या तात्पर्य है। सभी अवधारणाओं की तरह इतिहास की धारणा की भी व्याख्या बहुत सहज नही है। सबसे सरल रूप में कहें तो इतिहास किसी व्यक्ति अथवा समाज राष्ट्र की पुनर्रचना से सम्बद्ध है। यह, इस अतीत की रचना एक आख्यान के रूप में करता है। यह, जो अनुसंधान किया जा रहा है उसके विभिन्न पक्षों के मध्य अंतर्सम्बन्ध स्थापित करता है, साथ ही, उसी समय इस पर भी विचार करना

चाहता है कि किस प्रकार व्यक्ति अथवा समुदाय अथवा राष्ट्र ने, जिसके बारे में चर्चा हो रही है, समय के साथ अपने को परिवर्तित किया है ।

एक व्यक्ति के रूप में, हम में से प्रत्येक के पास इसकी स्मृति है कि कैसे कोई समय के अंतराल में विकसित हुआ है। यह स्मृति, जिसे एक व्यक्ति अपने स्वयं के जीवनानुभवों के मानस में संचित करता है, एक व्यक्ति के रूप में उसका इतिहास है। जिस क्षण में इतिहास की व्याख्या इस तरह से करता हूँ , यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी व्यक्ति के लिए स्वयं के बिना ऐतिहासिक ज्ञान के, या बिना ऐतिहासिक समझ के जीवित रह पाना असम्भव है । क्या हम, एक क्षण के लिए उस मनोवैज्ञानिक स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, जिसे 'स्मृति लोप' कहा जाता है । जैसा कि हम सभी जानते हैं, 'स्मृति लोप' एक ऐसी मानसिक स्थिति है, जिसमें व्यक्ति अपने अतीत के बारे में सब कुछ भूल जाता है । इस तरह के स्मृति भ्रंश से होने वाली आत्मविस्मृति भयंकर हो सकती है । इसका परिणाम होता है—अपने जीवन का मार्ग पार कर सकने मे व्यक्ति की पूर्ण अक्षमता । जो कुछ एक व्यक्ति का सच है, वही समाज का भी सच है । एक व्यक्ति के रूप में खुद को समझने के लिए और जीवन का अपना मार्ग पार करने के लिए अपने जीवनानुभवों की स्मृति की ज़रूरत होती है; इसी प्रकार कोई समाज या राष्ट्र—जो व्यक्तियो का समूह है—अपने अतीत और अपने जीवनानुभवो की स्मृति की ज़रूरत महसूस करता है । यह स्मृति उक्त समाज या राष्ट्र को स्वयं की समझ, सामाजिक और नैतिक संतुलन और अपने भविष्य पर सार्थक ढंग से विचार करने की क्षमता देती है और भविष्य को साकार करने की ओर क्रियाशील करती है, जिसकी कि यह आकांक्षा करती है । इससे सुस्पष्ट है कि किसी व्यक्ति, या किसी समाज या किसी राष्ट्र के लिए स्वयं की ऐतिहासिक समझ कितनी आवश्यक है । इस तरह की समझ न केवल व्यक्ति या समूह को संतुलन और दिशा का बोध देती है, बल्कि यह उसे अपने भविष्य की रूपरेखा तय करने में सक्षम बनाती है ।

यह संगत होगा कि इसके अतिरिक्त कुछ प्रासंगिक प्रश्नो के द्वारा इतिहास और समाज के साथ इसके सम्बन्ध के बारे में अपनी छानबीन करें । इतिहास किस प्रकार लिखा जाता है ? क्या बहुत-सी विधियाँ हैं, जिनके द्वारा अतीत की रचना की जा सकती है अथवा एकमात्र विधि है, जिसके द्वारा यह लिखा जा सकता है या लिखा जाना चाहिए । इतिहास और विचारधारा के बीच क्या सम्बन्ध है ? और किस प्रकार इतिहास और विचारधारा का यह सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ इतिहास की अवधारणा को मापता है, यदि वस्तुनिष्ठता किसी प्रकार सम्भव हो ? क्या समाज के भविष्य को आकार देने में इतिहास की कोई भूमिका होती है और यदि ऐसा है तो इस नैरन्तर्य में यह कौन-सी सुनिश्चित भूमिका अदा करता है ।

मानववादी विद्वानों के समक्ष यह पहले ही सुस्पष्ट है कि 'हिस्ट्री' या इतिहास (जैसा कि हम अपनी ज्ञान-व्यवस्था मे इसे परिभाषित करते है) एक ऐसा अनुशासन है, जो समझ की पूर्णता का एक अभ्यंतर तत्त्व निर्मित करता है, जिसे कि व्यक्ति और समाज स्वयं अपने बारे में और अपने चारों ओर फैली दुनिया के बारे मे रखता है। इसे व्यापक रूप मे लें तो ऐतिहासिक आख्यान अधिकांशतः स्मृति मे लिखे जाते है: लिखित या मौखिक ब्यौरों से, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते चलते हैं। और फिर ऐतिहासिक विद्वत्ता के संरक्षकों द्वारा एक औपचारिक पाठ में परिणत किए जाते हैं। इसी व्यापक अर्थ में कि महान महाकाव्य भी, जो हमारी संस्कृति के सत्त्व की रचना करते है, हमारे समाज का इतिहास हैं। हमारी साहित्यिक विरासत में पुराण एक समान ज्ञान-संग्रह की निर्मिति करते हैं। ज्ञान के ये दोनों निकाय अंशतः सर्जनात्मक कल्पना का कार्य करते है और अंशतः स्मृति से लिखे जाते है, जो व्यक्तियो अथवा समुदायो के पास अपनाने को होती हैं। जैसा कि मैने बताया, उन्होंने समाज को स्वयं के बारे मे समझ देने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई; साथ ही, उसी समय, वे हमारे समाज के भविष्य को आकार देने मे आचरण और हस्तक्षेप के आधार थे।

जबकि इतिहास की परम्परा के पास हमारे समाज मे बहुत विचारणीय पुरातनता है, इतिहास के आधुनिक अनुशासन के पास, जो आज हमारे उच्च अध्ययन संस्थानो में पढ़ा और लिखा जाता है, कुछ अलग वंशावली है। इतिहास समाज के लिए उसके अतीत की स्मृति की रचना, इस उद्देश्य से करना चाहता है कि मैने पहले से ही इसे महत्त्व दिया है। तथापि ऐतिहासिक आख्यान की रचना, इतिहास के आख्यान की रचना से काफ़ी भिन्न प्रक्रिया है। ऐतिहासिक पाण्डित्य, जैसा कि हम इसे अधिगम के औपचारिक केन्द्रो में समझते हैं, 18वी और 19वी सदी के उत्तरार्द्ध तक ले जाता है और ऐतिहासिक आख्यान विद्वानों द्वारा अतीत के राजनीतिक अभिनेताओं द्वारा प्रोद्भूत अभिलेखन के माध्यम से रचे गये। इस प्रकार, जिस आधार पर ऐतिहासिक आख्यान रचे गये, वह उस आधार से नितांत भिन्न था, जिससे इतिहास का आख्यान रचा गया। इतिहास के इस चरित्रांकन से स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास-लेखन-कार्य के लिए क्यो अभिलेख पर आधारित प्रलेखन नितांत आवश्यक है।

आधुनिक काल में, जब इतिहास के अनुशासन को निश्चित रूप दिया गया, तो मानववादी विद्वानों के मन मे तीव्र इच्छा थी कि मानवीय कार्य-व्यापार के बारे में समझ और जानकारी हासिल की जाये, जो कि उन्ही निश्चितियों पर आधारित थी, जिन्होंने प्रकृति और पदार्थ के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान को चित्रित किया था। यह विश्वास कि वैज्ञानिक जगत में स्थापित ज्ञान के प्रकार को मानवीय कार्य-व्यापार में प्रतिचालित कर पाना सम्भव है, प्रत्यक्षवाद कहलाता है। और जब 19वी सदी मे आधुनिक इतिहास की नींव रखी गयी,

प्रत्यक्षवाद की विचारधारा का बौद्धिक जगत मे व्यापक प्रसार था। इस मनोवेग के तहत कार्य कर रहे विद्वानों का विश्वास था कि आभिलेखिक प्रलेखन के ज़रिये वे मानव अतीत के बारे में ज्ञान पैदा कर सकते हैं, जो कि उसी प्रकार यथातथ्य होगा, जैसा कि किसी भौतिकशास्त्री द्वारा जड़ पदार्थ के व्यवहार के बारे में अथवा किसी रसायनशास्त्री द्वारा कार्बनिक या अकार्बनिक पदार्थ की संरचना के बारे में प्रस्तुत ज्ञान।

तथापि 19वी सदी के इतिहासकारों की प्रत्यक्षवादी मान्यताएँ बहुत समय तक स्वीकृत नही रह पायी क्योकि शीघ्र ही इस बात की प्रतीति हो गई कि मानवीय क्रिया व्यापारो से रू-ब-रू होने में, विद्वान सामाजिक अस्तित्व को समझने में व्यस्त थे, जो कि वैज्ञानिक जॉच की विषयवस्तु से गुणात्मक रूप से बहुत भिन्न था। कार्बनिक या अकार्बनिक जड़ पदार्थ से भिन्न मानव के पास अपने चित्त में प्रतिभा का एक चैतन्य अधिष्ठान था; इसलिए उसके विचार और क्रियाओ का निर्धारण या विश्लेषण जड़ पदार्थ के व्यवहार या संघटन के अनुरूप नही किया जा सकता।

संसार के 20वी सदी में प्रवेश करने के साथ इतिहासकारो के समक्ष स्पष्ट होता गया कि मानव सम्बन्धी खोजबीन के लिए प्रत्यक्षवाद एक भ्रामक निर्देशक था और यह भी कि यद्यपि मानव सम्बन्धी ज्ञान यथातथ्य हो सकता है, उस पर वस्तुनिष्ठता या निश्चिति का दावा करना कठिन था, जैसा कि प्राकृतिक विज्ञानों के साथ इसे सम्बद्ध करने की हमारी प्रवृत्ति है। वस्तुतः उसी समय प्राकृतिक विज्ञानों मे भी निश्चितता की अवधारणा खण्डित हुई।

यह सभी, एक तरफ हमें इतिहास और विचारधारा के सम्बन्ध की नयी पड़ताल की ओर ले जाता है तो दूसरी तरफ, इतिहास... समाज के भविष्य को आकार देने में जो भूमिका निभाता है, उसकी ओर। हम सभी इस तथ्य से अवगत हैं कि प्रलेखन, जिसे इतिहासकार अपने आख्यान का आधार बनाते हैं, इतना व्यापक और प्रभूत है कि अध्येता को एक सुव्यवस्थित सिद्धांत की आवश्यकता महसूस होती है.. एक विश्व-दृष्टि; अथवा एक विचारधारा, जिससे वह कच्चे ऑकड़ों से अतीत के बारे में एक आख्यान की रचना कर सके। सभी ऐतिहासिक लेखन, इसलिए मान्यताओ और पूर्वधारणाओं पर आधारित होता है। फिर भी, हम अनुभव से जानते हैं कि ऐतिहासिक आख्यान दो अंतः सम्बन्धित खण्डों से बने होते हैं। एक खण्ड, जिसके पास इसके बारे में 'वस्तुनिष्ठता' सुस्पष्ट गुण होता है; और दूसरा खण्ड जो उन मान्यताओं और विश्व-दृष्टि की ओर काफ़ी झुका होता है, जो आख्यान को आकार देते हैं और इसे एक भविष्यत्कालिक धार देते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे स्वतंत्रता संग्राम की महाकाव्यात्मक कथा के बारे में विचार कीजिये। इतिहासकारों में इस बारे में मतैक्य है कि महात्मा गॉधी के नेतृत्व में अहिंसात्मक संघर्ष के कारण भारत स्वतंत्र हुआ। एक दूसरी दृष्टि है कि 1857 की सशस्त्र क्रांति, दक्षिण और उत्तर-पूर्व में

जनजातीय विद्रोह और नेताजी सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय सेना द्वारा निभायी गयी भूमिका के बगैर भारत का स्वतंत्र हो पाना सम्भव नही था। तीसरी विचारधारा, जिसे हाल के वर्षों में मान्यता मिली है– वह किसानों, औद्योगिक मजदूरों और स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका को लेकर है, जिसे गौण अध्ययन के नाम से जाना जाता है। एक चौथी दृष्टि, हमारे सर्जनात्मक लोगों–लेखकों, कवियों, संगीतकारों, नाट्यकारों, चित्रकारों, पत्रकारों और अन्य लोगों–के महत्त्वपूर्ण योगदान को उजागर करने वाली हो सकती है, जिन्होंने सामाजिक सुधारों और स्वतंत्रता आंदोलन को अर्थ दिया। इसलिए इतिहास का अनुशासन समझ और चैतन्य उत्पन्न करता है, जिसका 'किसी समाज के आशाजनक, सम्भव और वांछित भविष्य' पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

मेरे विचार में सामाजिक प्रक्रिया मानवीय गतिविधि के समूचे स्वरग्राम को समेटती है जो आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक लक्ष्य से सम्बद्ध है। मेरा यह भी विश्वास है कि छात्रों की प्रत्येक पीढ़ी के लिए समाज की समझ अपरिहार्य है। भारतीयों के लिए इसकी प्रासंगिकता को अत्यधिक महत्त्व नही दिया जा सकता क्योंकि हमारी सभ्यतापरक उपलब्धियाँ हमारे 5000 वर्षों और उससे अधिक इतिहास के दौरान प्रकृति पर टिकी रही हैं। वस्तुतः भारत की संस्कृति ने, जो ईसाई युग के काफ़ी पहले विकसित हो गयी थी, भारतीयों की आनुक्रमिक पीढ़ियों को एक मनोभाव; एक मूल्य व्यवस्था और जीने का एक मार्ग दिया, जो समय के अंतराल और जनसंख्या में भारी वृद्धि के बावजूद उल्लेखनीय नैरंतर्य के साथ बना हुआ है। यह आज भारतीयों को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर रहा है, जैसा कि इसने इनके लिए अतीत में किया है। पहली ई. मे भारत मे अत्यधिक विकसित सभ्यता थी और ईसाई सदी से पूर्व साहित्य, कला, नृत्य, नाटक, कविता, अर्थ-व्यवस्था, ज्योतिष और धर्म के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियाँ पिछले दो हज़ार वर्षों के दौरान भारतीयों को प्रभावित करती रही हैं। इस तथ्य पर गर्व किया जा सकता है कि चीन को छोडकर भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जिसने समय-समय पर अपने को नवीकृत किया है और नवीकरण या अभिनव प्रयोग का कोई भी बड़ा कृत्य अपने अतीत से बिल्कुल विलग नहीं रहा है। अपने लम्बे इतिहास में हमने बहुत-सी गहराई से जुड़ी मान्यताओं को खारिज किया है, लेकिन उसी के साथ, हमने अपने पुरखों के प्रति आदर और गर्व को बनाये रखा है।

मानवीय गतिविधि के कई क्षेत्रों में हमने तीव्र विकास किया है। 1800 में कोई व्यक्ति भूमि पर आराम से एक दिन में 24 मील की यात्रा कर सकता था। यह यात्रा 8 घंटों में पूरी की जाती थी, प्रति घंटा 3 मील की तेज गति से। यह किसी व्यक्ति के लिए असामान्य बात नही थी कि वह रात्रि भोजन के लिए 12 मील जाये और फिर 12 मील चलकर घर वापिस आये। थॉमस कार्लाइल (1795-1881) कभी-कभी रात्रि भोजन के लिए राल्फ वाल्डो इमर्सन

(1805-1822) के साथ भोजन के लिए इतनी दूरी तय करके आते थे, ऐसा इमर्सन अपनी अंग्रेज़ी टिप्पणी में बताते हैं। कार्लाइल घोड़े द्वारा यह दूरी कम समय में तय कर सकते थे, लेकिन वह ग़रीब थे और उनके पास घोड़ा नही था। 21वी सदी के लिए भविष्यवाणी है कि कोई व्यक्ति कार में बैठकर आराम से 100 मील प्रतिदिन यात्रा कर सकता है और वायुयान में औसतन 1000 मील से अधिक की दूरी तय कर सकता है। सूचना के क्षेत्र मे हम 'सुपर राजमार्ग' के दौर में पहुँच गये हैं, जो न केवल विश्व के दूसरे क्षेत्र से सूचना प्राप्त कर सकते हैं, बल्कि एक साथ कई व्यक्ति इसमें साझेदारी कर सकते हैं।

पुरुष और महिलाएँ, पदार्थ और सूचनाएँ, अब विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक अत्यंत तीव्र गति से यात्रा कर रही हैं, जैसा पहले सम्भव नही था। यह भौगोलिक संचालन सूचना क्रांति के द्वारा और तीव्र हुआ है, जो किसी व्यक्ति को, न केवल शारीरिक गति के माध्यम से चीज़ों को देखने और बेहतर जानने की अनुमति देती है, बल्कि बैठने और विभिन्न देशों के टेलीविजन, ई. मेल, समाचार पत्रो को देखने की सुविधा प्रदान करती है और इस तरह उन्हें सूचनाएँ प्रदान करती है। वस्तुतः सूचना की गति ध्वनि से तेज चलने वाले यानों से काफी तीव्र है।

संसार में बहुत से लोग हैं, जिनका विश्वास है कि हमारी दुनिया की अखण्डता की अवधारणा 20वीं सदी के मध्य में सामने आई होगी, जब किसी ने पहली बार अंतरिक्ष से ऑखों और अंतरिक्ष यात्रियों के कैमरों की मदद से पृथ्वीग्रह को देखा होगा। अंतरिक्ष से पृथ्वी को देखना निश्चित रूप से अधिक क्रांतिकारी था, लेकिन एक विश्व की परिकल्पना और एक विश्व-परिवार की कल्पना निश्चित रूप से काफ़ी पुरानी थी। सदियो पूर्व, भारतीय दार्शनिको ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी, जिसका अर्थ आज भी उतना आधुनिक है, जितना आने वाले समय मे रहेगा, और वह घोषणा, जिसे संस्कृत से मुक्त रूप में रूपांतरित किया गया है, इस प्रकार है:—

"वे छुद्र-मस्तिष्क वाले हैं, जो इस संसार को अपने पूर्वाग्रहों द्वारा विभिन्न प्रकार के विभाजनों और सीमांकनों के साथ तुच्छ बनाते हैं, जो संसार के लोगों को विलग करते हैं। वे, जो उदार चरित वाले हैं और व्यापक दृष्टि रखते हैं, उनके लिए पूरा संसार एक परिवार है।" (उदार चरितानाम, वसुधैव कुटुम्बकम)

भूमण्डल की सदस्यता का दार्शनिक पृष्ठपट, संचार रूपांतरण और सूचना क्रांति के बावजूद, जिसे आज हम देख रहे हैं, एक समाज की योग्यता पर निर्भर करता है कि वह इन परिवर्तनो को अपनाये और इस विस्तृत संसार में अपनी भूमिका अदा करे। इस संदर्भ मे, व्यक्ति के कौशल का बहुत महत्त्व है और व्यक्तिगत कौशल की प्राप्ति सीधे अध्ययन संस्थाओं की निपुणता और उनकी क्षमताओं से सम्बद्ध है, केवल परम्परागत दर्शन और वैश्विक घटनाओं से नही।

बिहार के इतिहास के साथ गाहे-ब-गाहे मेरी मुठभेड़ में मुझे एक युवा प्रशासक के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली, जो 18वी सदी के पूर्वार्ध में उत्तर बिहार के पहले बंदोबस्त अधिकारी के रूप में नियुक्त हुआ। उसका मुख्यालय मुज़फ्फ़रपुर था। मैक गवर्न युवा था और जब वह अपनी रिपोर्ट के प्राक्कथन में लिखता है कि वह बिहार की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के बारे में पुस्तकों द्वारा परिचित है और वह इसे व्यक्तिगत रूप से अनुभव करना चाहता है तो वह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के इतिहास के युवा छात्र की दृष्टि की नवीनता का परिचय देता है। सभ्यतापरक उपलब्धियों की शब्दावली में उत्तरी बिहार के भूगोल की उसकी समझ, उसे वर्तमान दरभंगा और मधुबनी ज़िले के गॉवों में ले जाती है क्योंकि इसी भूमि में न्याय और योग दर्शन उत्पन्न हुए थे। वह यह देखकर स्तम्भित रह गया कि मिथिला के लोगों की विश्लेषणात्मक क्षमता युगों के अंतराल मे अपनी चमक खो बैठी है और वे ग़रीबी और अज्ञान के डूबे हुए हैं लेकिन अब भी कुछ चिनगारियॉ शेष हैं। उसने आश्चर्य व्यक्त किया कि ऐसा क्यों हुआ, लेकिन उसने इसका उत्तर नही दिया और इस उत्तर न देने के लिए इस तर्क का आश्रय लिया कि बंदोबस्त अधिकारी की रिपोर्ट में इन प्रश्नों के जवाब ढूँढने की आवश्यकता नही है।

रामधारीसिह दिनकर ने हिमालय पर लिखित अपनी प्रसिद्ध कविता में कुछ प्रासंगिक सवाल उठाये हैं और यही बेहतर है कि मैं उसका कुछ अंश उद्धृत करूँ :

तू पूछ अवध से राम कहॉ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहॉ ?
ओ मगध ! कहॉ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहॉ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ कहॉ इसने खोई
अपनी अनंत निधियॉ सारी ?

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहॉ ?
तिब्बत, ईरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहॉ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति-कवि के गान कहाँ ?

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

तू मौन त्याग कर सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल
नव-युग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।

दिनकर जी की इस कविता ने किशोर और किशोरियों को प्रभावित किया और स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान कार्य के लिए प्रेरित किया। यह कविता आज बहुत प्रासंगिक है क्योंकि बिहार की अर्थ-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था में तत्काल सुधार की ज़रूरत है।

इस तरह के प्रश्न पूछने आवश्यक हैं क्योंकि बगैर पूछे इतिहास उत्तर नही देता। तथापि, यह भी सच है कि इतिहास मात्र इसलिए भी उत्तर नहीं देता कि किसी ने प्रासंगिक प्रश्न पूछा है। मेरे विचार में पहली आवश्यकता वर्तमान को समझने की है और यही वह समझ है, जो हमें सांस्कृतिक विश्वास, स्वभाव और यहाँ तक कि उत्पादन प्रक्रियाओं के प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में आधारभूत निवेश प्राप्त करने में सक्षम बनाएगी। यह भी सच है कि विश्व के लोग बिहार के लोगों का सिर्फ इसलिए सम्मान करने नही जा रहे है कि 2500 वर्षों से भी पूर्व पटना विश्व का सबसे खूबसूरत और आधुनिक नगर था अथवा नालंदा विश्व का सर्वोत्कृष्ट विश्वविद्यालय था अथवा लिच्छवियों के यहाँ प्रातिनिधिक गणतंत्र था। यह सच है कि हम पाणिनि, आर्यभट्ट, कपिल, चाणक्य और अन्य कई के वंशज हैं। लेकिन इसी के साथ आज हम कहाँ है ? इस स्थिति को हम मुंशी प्रेमचंद के शब्दों में कह सकते हैं :

"हमारे दादा को हाथी था, हम सीकर लिये फिरते हैं।"

क्योंकि हम नयी सहस्राब्दी में प्रवेश कर रहे हैं, कुछ निश्चित विशेषताएँ हैं, जो

सम्पूर्ण विश्व के लिए उभयनिष्ठ होंगी। ये हैं— कम्प्यूटर, टेलीविजन, विज्ञान की जानकारी, जिसमें बाह्य अंतरिक्ष और बाज़ार की अर्थव्यवस्था शामिल है। प्रत्येक समाज को इस नये संसार में प्रतिस्पर्धा के लिए कौशल विकसित करने होंगे। यह किसी व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों और उसके व्यावहारिक ज्ञान से सम्बद्ध है। कोई व्यक्ति अपनी सांस्कृतिक विरासत अथवा मस्तिष्क की आधारभूत समृद्धि के होते हुए भी भविष्य को हाथ से जाने देगा, यदि उसने नयी प्रौद्योगिकी में प्रवीणता नही हासिल की है। मैं कविता, दर्शन, लोक-साहित्य, गीत, संगीत, स्थानीय भाषाओं और धार्मिक विश्वासों की भूमिका को नकार नही रहा हूँ, लेकिन ये अपने आप में किसी समाज को इस प्रतियोगात्मक संसार में अपनी महानता स्थापित करने का अवसर नही देते।

हम स्वतंत्रता की 50वी वर्षगॉठ एक वर्ष भर चलने वाली समारोह-श्रृंखला के रूप में मना रहे है, जो 15 अगस्त 1997 से प्रारम्भ हो रहा है। अपने समकालीन इतिहास का निकट से अध्ययन उद्घाटित करेगा कि कहॉ हमने गलत दिशा पकड़ी है, खासकर बिहार के संदर्भ में। फिर भी, यह अवसर नही है कि हम अपनी उपलब्धियों या कमियों की सूची बनायें। प्रत्येक समाज को अतीत की गलतियों के प्रति एक स्वस्थ उपेक्षा भाव विकसित करना चाहिए। हमें निश्चित रूप से इस असंतोषजनक यथापूर्ण स्थिति को बदलने के लिए कार्य करना चाहिए अथवा कुछ अनुभूतिक्षम प्रेक्षकों के विचार में प्रारम्भ और अधिक स्खलन को रोकना चाहिए। अंततः अपनी दृष्टि उठानी होगी।

पहली और प्रधान है— शिक्षा। 50% से अधिक हमारे लोग अशिक्षित हैं, जिनमें 70% महिलाएँ हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इसे एक सामाजिक चुनौती के रूप में लें। इस बात पर ज़ोर देने की आवश्यकता है कि अकेले साक्षरता बिहार को एक महान भूमि और बिहारियों को महान व्यक्ति नही बना सकती। लेकिन यह आधारभूत है। सूचना प्रौद्योगिकी में हुए नवीनतम विकास की मॉग होगी कि हम अपने बच्चों को अविलम्ब कम्प्यूटर का प्रशिक्षण तीसरी कक्षा से ही देना शुरू करें। कम्प्यूटर वर्तमान, साथ ही भविष्य की भाषा के रूप में उभर कर सामने आया है, जबकि कम्प्यूटर स्वयं तीव्र परिवर्तन की प्रक्रिया में है। भारत के कुछ भागों ने भारतीय क्षमता प्रदर्शित की है और इस भाषा में प्रवीणता हासिल करने के लिए बिहार उस समूह में शामिल हो सकता है। यह कोई कठिन सांस्कृतिक कार्य नही है, बल्कि इसके लिए प्रशासनिक प्रबंध किये जाने की आवश्यकता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण चीज़ है— स्वैच्छिक क्रिया का क्षेत्र। आवश्यकता है कि स्वैच्छिक संस्थाएँ तेज़ी से वृद्धि करें। इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि वे प्रामाणिक हों और आधारभूत विषयवस्तु और सिद्धांतों, यथा कम्प्यूटर शिक्षा, पर्यावरण, जनतांत्रिक अधिकारों, सार्वजनिक निधि के उचित उपयोग और इसी प्रकार अन्य चीजों से सम्बद्ध

हों। पंचायतों को निधि के हस्तांतरण और पंचायत स्तर पर एक नये नेतृत्व के उभार के साथ एन.जी.ओ. को सक्षम होना चाहिए कि वे 'सार्वजनिक धन' को थोड़ी संवेदनशीलता के साथ देखें और दूसरों की चेतना को तीक्ष्ण करें। इससे धन का उचित और सम्पूर्ण उपयोग हो सकेगा। यह—कृषि के विकास, उद्योग, सुरक्षित पीने के पानी की आपूर्ति, आवश्यक वस्तुओ की सार्वजनिक वितरण प्रणाली, स्वास्थ्य की देखभाल और दूसरी नागरिक सुविधाओं के क्षेत्र में भी गतिशीलता बढ़ायेगा। अपना हित-साधन करने वाले समूहो के विरुद्ध सम्बद्ध नागरिकों का यह नया मोर्चा एक बेहतर समाज की रचना को सुनिश्चित करेगा, जिसे हमारे बच्चे और हमारे बच्चों के बच्चे पायेंगे।

तीसरी चीज़ बिहार के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सामाजिक कार्यक्षेत्र मे नेतृत्व से सम्बन्धित है। जो शिक्षित हैं और जिन्हें अच्छी शिक्षा का लाभ मिला है, उनकी सामाजिक ज़िम्मेदारी बहुत अधिक है। यह सुनकर आप सचमुच निराश होगे कि बिहार के उच्च पदस्थ और शिक्षित व्यक्ति बिहार में रहना नही चाहते। अपने विद्वानो, अध्यापकों को न केवल भारत के विभिन्न क्षेत्रों, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में भेजने की हमारी शानदार परम्परा रही है। बहुत-से लोग नही जानते कि असम के महानतम विद्वान् और शिक्षक शंकरदेव के पिता मिथिला के थे। बिहार के लोगों ने न केवल भारत में उच्च पद प्राप्त किये है, बल्कि बिहार मूल के लोग दूर देशों में प्रधानमंत्री तक हुए हैं। पिछले सौ वर्षों के दौरान हमने अध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, पत्रकार और दूसरे दक्ष लोग बंगाल, साथ ही दक्षिण से प्राप्त किये हैं और हमने उनका सम्मान किया है। बदले में उन्होने न केवल शहरी केन्द्रों बल्कि बिहार के सुदूर गॉवों में सेवा की है। मै अपने गॉव बिहटा के डॉ. एन.सी. पाल और जी.डी. कॉलेज, बेगूसराय के अपने अंग्रेज़ी शिक्षक प्रो. एम.ए. बोस को कृतज्ञता और आदर के साथ याद करता हूॅ। इसलिए यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज हम अपने सक्षम लोगो को बिहार के बाहर शहरी केन्द्रो में तेज़ी से खो रहे है, जबकि उनकी ज़रूरत अपने गृह-राज्य में है। मैं लम्बे समय तक सरकार में रहा हूॅ, इसलिए सरकार के महत्त्व और उसकी सीमाओं का मुझे अनुभव है। यह प्रत्येक समाज के अभिजात्य वर्ग की जिम्मेदारी है और विशेषकर बिहार के अभिजात्य वर्ग की, जहॉ बाज़ार की शक्तियॉ अभी विकसित नही हैं कि वह विकास के एजेंट की भूमिका निभा सके।

समकालीन इतिहास हमें सिखाता है कि यह वांछनीय होगा कि इन दिशाओं में दृढ़प्रतिज्ञ होकर बढ़ें। हमारा प्राचीन इतिहास बताता है कि हमारे ऊपर इस सम्बन्ध में न केवल ऐतिहासिक जिम्मेदारी है, बल्कि क्षमता भी है। महात्मा बुद्ध के वचन इस संदर्भ में आज भी प्रासंगिक हैं :

"और कोई भी हो आनंद, या तो अभी या बाद मे मैं मरूॅगा, उसे स्वयं के लिए दीपक बनना होगा और अपने लिये आश्रय बनना होगा, उन्हें अपने लिये कोई बाह्य आश्रय नही

लेना होगा, बल्कि सत्य को अपने दीपक की तरह पकड़े रखना होगा, ... अपने अतिरिक्त किसी अन्य की ओर सहायता के लिये नहीं देखना होगा... ये वे हैं... जो उच्चतम शिखर पर पहुँचेंगे। लेकिन उन्हें सीखने के लिए इच्छुक होना होगा।"

मैं महात्मा बुद्ध द्वारा उच्चरित अंतिम शब्दों के साथ अपनी बात समाप्त कर रहा हूँ, जो उन्होंने 463 ई.पू. में अस्सी वर्ष की वय में अपनी मृत्यु के पूर्व कहे थे :—

"अब, ओ संन्यासियों, मैं तुम्हें सम्बोधित करता हूँ। यौगिक वस्तुएँ क्षय होने के लिये ही हैं। गम्भीरता के साथ संघर्ष करो।" □

साझी विरासत

पद्मचंद्र कश्यप

सात नदियों के उद्गम क्षेत्र हिमालय के विस्तृत आँचल में एक मेले का आयोजन होता है, जिसका नाम है - बुढ़ी दियाउड़ी - बिरतासुर मेला। प्राचीन काल के आपसी संघर्ष के आंखों देखे विवरण की झलक देने वाला यह मेला भारत की मिलीजुली संस्कृति का महत्वपूर्ण आयोजन है। इस आयोजन का गम्भीर अध्ययन "गगनांचल" के पाठकों के लिए विशेष रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं चिंतक, पत्रकार और इतिहासविद् पद्मचंद्र कश्यप।

परम्परा संस्कृति का अभिन्न अंग है और संस्कृति मानव जीवन का मूलमन्त्र। देखने में आता है कि परम्परा गाहे-बगाहे अपने भीतर ऐसे रहस्य छिपाए रखती है जिनके उद्घाटन से जो चित्र एवं तथ्य उभर कर आते हैं उनकी कल्पना तक कल्पनातीत कही जाती है।

ऐसी ही एक परम्परा हिमालय के उस भाग की निजी सम्पत्ति है, जो बहुचर्चित सप्तनदों का उद्गम क्षेत्र है। गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलुज, व्यास तथा रावी नदियों के जल-संग्रहण की कतिपय दुर्गम घाटियों और तलहट्टियों में मार्गशीष मास की अमावस्या की रात और प्रतिपदा व द्वितीया के प्रातः काल में एक ऐसा प्रस्तुतीकरण होता है, जिसका वर्गीकरण सहज नही, क्योंकि न वह निरा धार्मिक अनुष्ठान है, न यज्ञ, पर्व व त्यौहार। वह नाटक भी नही, लीला भी नहीं, और सही अर्थों में मेला भी नही। भले ही सामान्यतः उसे मेला की संज्ञा दी जाती है, किन्तु जन-समागम को छोड़ मेलों जैसा न कोई नाच-गान, हास-परिहास व मनोरंजन का आयोजन होता है। नाम है बुढ़ी दियाउड़ी - बिरतासुर मेला।

नाम से ही स्पष्ट होता है कि यह (बुढ़ी) किसी पुरातन काल के भीषण संघर्ष (दियाउड़ी) का आंखों देखा विवरण हैं। यह उस युग का हवाला है, जब ऐतिहासिक घटनायें और प्रकृति का व्यापार मिथक बनने और दर्शन का जामा ओढ़ने लगे थे। यह किसी अवतार की गाथा नही। यह एक ऐसे व्यक्ति के उत्कर्ष और पराजय की कथा है, जो सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता, अमर, देवता बनते-बनते रह गया। और वह व्यक्ति था—वृत्र अर्थात् बिरतासुर (वृत्रासुर)। उसे हम नायक भी कह सकते हैं और प्रतिनायक भी।

उस वृत्र आख्यान की गूंज न केवल प्राचीन भारत के गगन में, किन्तु विश्व के उस गगनांचल में भी थी, जो भूमध्य सागर के तटीय प्रदेशो से लेकर, पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, अफगानिस्तान और पाकिस्तान को भी आच्छादित करता है।

उन्नीसवी-बीसवी शताब्दी के उत्खननो, अनुसन्धानों, अन्वेषणों से मालूम होता है कि आज से लगभग चार हजार वर्ष पुरानी मेसोपोटेमियाई मृदपट्टिकाओं में एक ऐसी गाथा का उल्लेख है, जो इस हिमालयी प्रस्तुतीकरण एवं विषय-वस्तु से साम्य रखती है। यही नही प्राचीन भारोपीय भाषाओं संस्कृत, ईरानी, ग्रीक, रोमन एवं जर्मन मे भी इस गाथा की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। ईरान की अवेस्ता में इस का जिक्र है, बेबीलोनिया के मन्दिरों, देवालयों मे इसे आनुष्ठानिक तौर पर प्रदर्शित, अभिनीत किया जाता था। ऋग्वेद में इन्द्र और वृत्र का संघर्ष सर्वप्रमुख चर्चित विषय है। किन्तु आज तक यह गाथा लगभग अपने पूर्वरूप मे जीवित है तो केवल हिमालय में। कारण साफ है, वृत्र हिमालय का अपना पुत्र था। घटना इसी पर्वतराज के भूभाग मे घटी थी। बुढ़ी दियाउड़ी वृत्र की असफलता, उसके अपकर्ष की यादगार है। यह हार ऐसे मानव की थी, जो सर्वथा असाधारण था। इसीलिए इतने युग बीत जाने पर भी उसका जन्म एवं कर्मक्षेत्र उसे भुला नही पाया। उसके लिए हिमालय निवासियों को कई लांछन झेलने पड़े। स्मृतिकारो ने उन्हें म्लेच्छ कहा, वृषल कहा। उन्हें समाजच्युत कर दिया गया क्योकि मनु सरीखे नीति निर्धारको की नजर में इन लोगों का वेदों से सम्बन्ध टूट गया था।

भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में जिस भी ऋषि कवि ने काव्य की रचना की, उसमें वृत्र का नाम प्रायः आता ही रहा। वृत्र, इन्द्र का विरोधी था। ऋग्वैदिक मनीषियों ने इन्द्र की जिस कार्य के लिए निरन्तर स्तुति की, वह था वृत्र की हत्या। इसी तरह मेसोपोटेमिया-बेबीलोन की प्राचीन गाथा में जिस व्यक्ति का यशोगान किया जाता है और जिसके कार्यकलाप की ब्योरेवार चर्चा की जाती है, वह है मर्दुक। मर्दुक देवपुत्र है, युवा है, साहसी है। देवगण, तियामत के विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व करने के लिए मर्दुक का चुनाव करते हैं। भीषण युद्ध होता है, तियामत की मर्दुक के हाथों मृत्यु होती है। तियामत साधारण स्त्री नही थी। वह देवताओं की जननी, समुद्री जल की आदि देवी थी। वह दानवी थी और असुर गण उसके सहयोगी थे। वह अन्धकार, अव्यवस्था का प्रतीक थी।

उसके मृत शरीर से मर्दुक ने नये नियमबद्ध संसार की रचना की। उसके शरीर की अहि (ड्रेगन) के रुप में कल्पना की गई है और मर्दुक-तियामत संघर्ष नायक-अजगर संघर्ष के नाम से प्रसिद्ध है। माना जाता है कि विश्व के धार्मिक साहित्य में, विशेष कर बेबीलोनिया के प्राचीन साहित्य में यह गाथा अत्यधिक महत्व रखती है। उस देश में शताब्दियों तक इसके नाट्य रूप का प्रति नववर्ष के आरंभ में अभिनय किया जाता था।

बुढ़ी दियाउड़ी मूलतः अग्नि और जल के लिए हुए संघर्ष की गाथा है। अग्नि एक पक्ष के पास थी और जल दूसरे के पास। दोनो पक्ष प्रकृति के इन दोनों तत्वों पर अधिकार चाहते थे, जिस से वे सर्वशक्तिमान बन जाएं। इस दृष्टि से, यह संघर्ष शक्ति और वर्चस्व के लिए था और मानव इतिहास में वर्चस्व का पहला संगठित टकराव था। अग्नि इन्द्र के हाथ थी और जल पर वृत्र का अधिकार था। अमावस्या की रात की घटनायें अग्नि को हथियाने के लिए हुए संघर्ष की दास्तान हैं और अगले दो दिनो का अभिनय वृत्र की हत्या कर जल पर अधिकार करने के सफल प्रयत्न का चित्रण। यों लगता है कि जिस व्यक्ति या जाति ने सर्वप्रथम अग्नि की खोज की, या कहें अग्नि का रहस्य जाना, वह व्यक्ति प्रगति की दौड़ में बहुत आगे निकल गया। जो अग्नि से वंचित रहे, उन्होंने हर संभव उपाय किए कि अग्नि का भेद जान लें, उसे प्राप्त करें। यह आदिम मानव की उस काल की बात है, जब वह कंद-मूल और कच्चे मांस आदि पर ही निर्वाह करता था। अग्नि को प्राप्त करने वाले लोगों का नेता इन्द्र था, विरोधी जनों का नायक वृत्र था। वृत्र उस क्षेत्र का रहने वाला था जहां नदियों का स्त्रोत था। दूसरा विकराल टकराव तब हुआ, जब कृषि के लिए जल की उपयोगिता मालूम पड़ी। इस बार वंचितों की पंक्ति इन्द्र पक्ष के जनों की थी। बुढ़ी दियाउड़ी के सन्दर्भ में इन्द्र तथा उस के सहयोगियों को गढ़िया (गढ़ के निवासी - मरुत गण) कहा जाता है और वृत्र और उसके अनुयायियों को दानुआ (दानव)।

अमावस्या की सन्ध्या वेला में खुले मैदान के बीचोंबीच आग का बहुत बड़ा अलाव जलाया जाता है, जिसे भड़राणा कहा जाता है। लकड़ी के बीसियों मोटे-मोटे तनों के रूंड-खंडों (रौहट) से धू-धू करती ज्वालायें अन्धकार को भेदती हैं। रात्रि के प्रथम पहर में, आसपास के गॉव से गढ़ियों की टोलियॉ हाथ में झूलती मशालें लिए भड़राणा स्थल में प्रवेश करते हैं। वे अलाव के इर्द-गिर्द घेरा बॉधकर खड़े हो जाते हैं। इस तरह वह सुरक्षा की दो-तीन पंक्तियॉ बनाते हैं। अग्नि और गढ़ियों के बीच के रिक्त स्थान में कबीरी (चारण) "ब्रह्म विद्या" का पाठ करते हुए अग्नि की प्रदक्षिणा करते है और बीच-बीच मे निश्चित अन्तराल पर "जुध" के लिए रुक जाते हैं। "जुध" शब्द के उच्चारण के साथ पारशुधारी दो युवक अलाव के गिर्द मूक-युद्ध का अभिनय करते हैं।

दूसरे पहर के अन्त पर दानुओं की इक्का-दुक्का टुकड़ियां मानों लुक-छुपकर भड़राणा स्थल में प्रविष्ट होती हैं। गढ़िये उन्हें सहज से खदेड़ देते हैं किन्तु कुछ ही देर में

दानुए एक के बाद एक लहर की भांति घुस आते हैं । वे प्रयत्न करते हैं कि भड़राणा के पास जाकर अग्नि का स्पर्श करें, किन्तु गढ़ियों की मजबूत सुरक्षा पंक्तियां अभेद्य दीवार बन उनके हर हमले को विफल कर देती हैं ।

तीसरे पहर, कन्धों पर एक बहुत बड़ा अजगर (डेरच) उठा दानुओं का दल आता है । अजगर, चील और देवदार के पतले, लम्बे टुकड़ों से बना होता है, लम्बाई लगभग चार मीटर, सिर और पूंछ तीस-चालीस सेटीमीटर तथा मध्य भाग तकरीबन एक मीटर मोटा । यही डेरच, बिरतासुर (वृत्रासुर) होता है । मुंह की ओर से भड़राणा में इसे जलाया जाता है और दानुए इसे लेकर गॉव के चहुं ओर एक चक्कर लगाने निकल जाते हैं । मार्ग में बिरतासुर डेरच अपने भाई-बन्धुओ, समर्थकों, मित्रों को अपने पक्ष में आकर युद्ध करने का आह्वान करता है । निमन्त्रण के बोल हैं "दैत्य, दानुए, राक्स, असुरों ! चलो दियाउड़ी का खेल खेलें" । आने वाले संकट की आशंका से गढ़िये अपनी सुरक्षा पंक्तियो को और मजबूत कर देते हैं । युवा गढ़ियों की एक टुकड़ी प्रवेश द्वार पर आकर पहरा देती है । अग्नि के इर्द-गिर्द कन्धे-से-कन्धा मिलाकर बलवान गढ़िये तीन-चार पंक्तियां (कोर) बना लेते हैं और दस-पन्द्रह लम्बे-तगड़े गढ़िया युवक मैदान के एक अन्धेरे कोने मे जा खडे हो जाते है ।

ज्यो ही गढ़िए अपनी सुरक्षा व्यवस्था मजबूत कर लेते है कि डेरच अजगर को लेकर दानुए पूरे जोर से भीषण आक्रमण करते हैं और द्वार रक्षको को एक धक्के से पछाड़ कर सीधे भड़राणा की ओर बढ जाते है। सारे मैदान में सिर ही सिर दिखाई पडते हैं। आकाश को छूती लपटें, चिगारियां और धूल के कण लाल काली गर्दो-गुबार का घटा टोप बना देती हैं। ढोल-नगाड़े व अन्य वाद्यों पर दिआउडी का विशिष्ट युद्ध बाजा, गढियो-दानुओ को उत्साह से भर देता है । रेल-पेल में शत्रु-मित्र का ध्यान नही रहता । सभी की दृष्टि भड़राणा की ओर लगी रहती है, जहॉ डेरच उठाने वाले दानव गढ़ियों की रक्षा पंक्तियां तोड़ने के लिए ताबड़-तोड़ हमले कर रहे है । बाहरी पंक्तियां टूट जाती हैं और लगता है, आक्रमणकारी अग्नि को छू लेगे । तभी बिजली की गति से अन्धेरे में छिपी टुकडी का बलिष्ठ, लम्बा-चौडा गढ़िया नेता छलांग मार कर डेरच पर चढ़ जाता है और लगातार हथेलियों और मुक्कों की मार से उसके जलते मुख की लकड़ियों को तोड़ देता है । जलते हुए काठ टुकड़ों को एक-एक कर वह अग्नि में फेंक देता है । दानव उसे गिराने का भरसक प्रयत्न करते है, उसे नीचे खीचते हैं, किन्तु वह मानो जीवन को दांव पर लगा कर डेरच को छिन्न-भिन्न कर ही दम लेना चाहता हो । वह हाथ-पैर से लकड़ी को तोड़ता, उघाड़ता रहता है, जैसे किसी जीवित व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग काट कर फेंक रहा हो ।

तभी पौ फटने को होती है । वाद्य बन्द हो जाते हैं । न वृत्र (डेरच) अग्नि को स्पर्श कर अधिकार में ले सकता है और न उस पर आसीन इन्द्र (गढ़िया) ही वृत्र को मार सकता है ।

संघर्ष अनिर्णीत रह जाता हैं। वृत्र का अभियान असफल हो जाता है।

मेले का दूसरा चरण तुरन्त आरंभ हो जाता है। दानुओं का एक भाग गांव के बाहर एक खेत में जाकर मूंज घास की एक सर्पाकार रस्सी (बांड) बनाता है। उसे नदी या नाले के बहते जल में कुछ देर के लिए डुबोए रखा जाता है। वहां से हाथों पर उठा कर बांड देवमन्दिर के मुख्य द्वार पर कुंडलाकार में रखा जाता है, जहां मन्दिर का पुजारी विधिवत् उसकी पूजा-अर्चना करता है। एक कबीरी-चारण आकर उसे देवता-पद की प्राप्ति पर बधाई देता है। वह फुसफुसाते हुए अहि के कान में कहता है कि समूचा समाज उसकी इस महान उपलब्धि से चमत्कृत हो खुशी से झूम उठा है। जगह-जगह सामूहिक नृत्य हो रहा है, यह उचित होगा यदि वह स्वयं इस हर्षोल्लास में सम्मिलित हो जाए। थोड़ी-बहुत आनाकानी के उपरान्त वह चलने के लिए राज़ी हो जाता है। उधर मन्दिर के दूसरे भाग में एक गढ़िया नेता समाहत किया जाता है। उसे विशेष विधि से तैयार की गई शुडुंग (शहद की शराब) पिलाई जाती है और तलवार दी जाती है।

ऋग्वेद में जिस भी ऋषि-कवि की रचना को स्थान मिला, उसमें वृत्र का नाम बार-बार आता है। जिस उपलब्धि के लिए उन्होंने इन्द्र की प्रशंसा की, स्तुति की, वह थी—वृत्र की हत्या। यही उसकी महानतम सफलता थी (ऋ. I.32.1; I.32.4; 4.22.5) वृत्र वध के पश्चात् ही इन्द्र देवराज, देवताओं का अग्रणी (ऋ. I.102.9; 6.17.8), सृष्टिकर्ता (ऋ. I. 32.4; 2.16.2; 6.30.4), सर्वशक्तिमान (3.34.2) बन पाया। इन्द्र का नाम ही वृत्र हन, वृत्र हन्ता पड़ गया (ऋ. I.80.3, I. 108.3) और यह हो भी क्यों न। वृत्र कोई ऐरा-गैरा, साधारण शत्रु तो था नही। वह ओजायमान था (ऋ. 2.21.11), उतना ही शक्तिशाली था जितना इन्द्र। वह अपने आप को अजेय, अद्वितीय और अमर समझता था। उसके सामने कोई ठहर नही पाता था, इन्द्र भी नही (ऋ. 5.32.3; 5.32.8)।

ऋग्वेद से यह झलक मिलती है कि कवियो ने स्वयं यह संघर्ष नही देखा था। उन्होने यही कहा कि यह वृतान्त उन्हे पूर्वजों, पुरातनों से मिला है (ऋ. 3.32.13) किन्तु परम्परा बार-बार इसका उल्लेख करती रही, जिसका सीधा अर्थ यह है कि इन्द्र-वृत्र संघर्ष का विवरण लोक की सम्पति थी, उनकी गाथाओं का अंग था। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, आख्यान बडे जन-समुदाय में फैलता गया। कवियों की भाषा लच्छेदार होती गई। इन्द्र संभवतः मानव से देवता, देवता से सृष्टिकर्ता बनता गया। दूसरी ओर वृत्र मनुष्य से दानव (माता दनु के नाम पर), दैत्य, असुर बन गया। इतना ही नही वह इन्सान ही नहीं रहा, अहि (अजगर, सर्प) कहा जाने लगा। हमने देखा बुढ़ी दियाउड़ी, वृत्र के इसी अहि रुप में दर्शाई जाती है।

इसी प्रकार सुमेरी देव कलाओं में वृत्र से मिलती-जुलती भूमिका कुर नाम के दानव की है। वहां निनुर्त (इन्द्र) ने कुर को मारा, जो जल को रोके रखता था।

हिमालयी चित्रण और ऋग्वैदिक विवरण तथा मेसोपोटेमियाई गाथा में एक मौलिक अन्तर दीख पड़ता है। बुढ़ी दियाउड़ी विशेष महत्व वृत्र द्वारा इन्द्र के अधिकार से अग्नि के छीनने के असफल प्रयत्न को देता है, जब कि ऋग्वैदिकीय देव-असुर संघर्ष में यह संकेत मात्र व परोक्ष रूप से कहा गया है। पश्चिमी एशिया में अग्नि का कोई सम्बन्ध नहीं दर्शाता गया है।

जो भी हो, जिस प्रकार वृत्र को मिथकीय, दार्शनिक धरातल पर अन्धकार का प्रतीक दिखाया गया है, वही संदेश बुढ़ी दियाउड़ी का अमावस्या की रात्रि को प्रदर्शित होने से मिलता है। जिस प्रकार मर्दुक-तियामत गाथा बेबीलोन में नववर्ष के अवसर पर नाट्य रूप में अभिनीत हुआ करती थी, उसी प्रकार हेमन्त ऋतु के मार्गशीर्ष मास से दियाउड़ी का आरंभ होना उस पुरातन युग में नव वर्षारंभ माना जा सकता हैं, विशेष कर तब, जब भारद्वाज जैसे प्राचीनतम समझे जाने वाले ऋग्वैदिक कवि देवताओं से यह प्रार्थना करते हैं कि वे सपरिवार सकुशलता से सौ हेमन्तों को पार करे (6.13)। जीवेम शरदः शतम् आदि की कामना तो यजुर्वैदिक कालीन है।

इस तरह हम देखते हैं कि चाहे वह इन्द्र-वृत्र संघर्ष हो, मुर्दुक-तियामत कलह अथवा निनुर्त-कुर संघर्ष या हिमालय का बुढ़ी-दियाउड़ी (वृत्रासुर मेला) हो; यह भारत से लेकर भूमध्य सागर तक के विशाल भूखंड की साझी विरासत है। □

गंगा के वक्ष पर दीप

डॉ. हरीश नवल

हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी नही है, जो हमें प्रकृति के निकट लाए। गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांति निकेतन के माध्यम से एक प्रयोग किया था, जहॉ विद्यार्थी प्रकृति से जुड़े रहते थे, वही पद्धति चाहिए। ऐसा पाठ्यक्रम चाहिए, जिसमें फूल हों, पर्वत हों, गंगा की लहरें हो, अंतहीन दिशाएं हो; तभी हम वैदिक युग की ओर बढ़ेंगे।

एक छोटी जापानी कविता का छायानुवाद है: 'यदि मेरे पास दो रुपए हैं—मैं एक रुपए से रोटी खरीदूंगा और एक रुपए से गुलाब। रोटी मुझे जीवन देगी और गुलाब जीवन का उद्देश्य।'

प्रकृति और मानव का चिरंतन संबंध सर्वविदित है। श्रीमद् भागवत् गीता के तेरहवें अध्याय में पुरुष और प्रकृति से सम्बन्धित कुछ श्लोक हैं। एक श्लोक में 'पुरुषः प्रकृतिस्यो भुडक्ते प्रकृतिजागुणान' के अनुसार प्रकृति में टिका हुआ पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणो का उपभोग करता है। पर्यावरण के सम्बन्ध में यह ध्यान कर लेना ज़रूरी है कि प्रकृति के पांच विशिष्ट तत्वों- भूमि, वायु, जल, अग्नि और आकाश से ही मानव निर्मित हुआ है। इन्ही तत्वों की शुद्धता, इनका आपसी सामंजस्य, इनकी परिस्थितिपरक एक दूसरे की अनिवार्यता को हम पर्यावरण कह सकते हैं। पर्यावरण बिगड़ने से मानव समाज पर दूषित प्रभाव होता है और इसकी शुद्धता बने रहने से हमारा वातावरण शुद्ध रहता है, जो हमारे शरीर के साथ-साथ मन को भी शुद्ध करता है। शरीर दूषित होने से स्वास्थ्य का ह्रास होता है और मन के दूषित

होने से जीवन मूल्यों का ह्रास होता है ।

प्रदूषण का खतरा शरीर के लिए उतना अधिक नहीं है, जितना कि मन के लिए । मन की शुद्धि के लिए ही हमारे शास्त्रो में स्वाध्याय, यज्ञ, पूजा, आरती आदि सभी क्रियाओं में पर्यावरण की शुद्धता का ख्याल किया जाता रहा है । पर्यावरण की शुद्धता के लिए ही मंदिरों में धूप, अगरबत्ती, घी की आरती की योजना, शंख की गूंज, घंटे और घड़ियाल की ध्वनि का महत्व आज शोधकर्ताओ द्वारा वैज्ञानिक माना जा रहा है । गंगा के विशाल वक्षस्थल पर पत्रों के दोनो में दीप जला कर प्रवाहित करना भी पर्यावरण के अनुकूल है । यानी जिस पर्यावरण पर आज विश्व मे विगत दो दशकों से चिन्ता जताई जा रही है और नई खोज के अन्तर्गत ओज़ोन का विश्लेषण किया जाता है, इसे हमारे आदि ऋषि सहस्रों वर्षों पूर्व से जानते आए हैं ।

आज मूल्यो के प्रति सचेत ही कौन है ? आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में मूल्य गौण हैं—कीमतें प्रमुख हैं । कीमतें आसमान छू रही है और मूल्य धूल धूसरित होते जा रहे है ।

जितना अधिक आज हम सभ्य होते जा रहे हैं, उतना ही अधिक असंस्कृत हो रहे हैं । सभ्यता का विकास हो रहा है और संस्कृति का विनाश हम देख ही रहे हैं । हम असभ्य ही ठीक थे—तब हम सुसंस्कृत तो थे । तब वसतागमन का प्रभाव हमारे शरीर बुद्धि और चित्त पर होता था और अब इस वसंत के आगमन की सूचना हमे कैलेंडर देता है.... 'हमको वसंत है मेरी तारीख कैलेडर की'...... गिरिजा कुमार माथुर । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा, 'वसंत आता नही लाया जाता है ।' जैसे हम दूरदर्शन पर मौसम की सूचनाएं सुनते हैं, ठीक वैसे ही ऋतु आगमन की सूचनाएं कैलेंडर से ही पाते हैं । हम इतने मूल्यहीन युग की संताने हैं, जो हृदयहीन होने में गौरव महसूस करती हैं । आज हम अपने भ्रष्ट होने का विशद गौरव-गान करते हैं । अपने दूषित आचरण की गरिमा का बखान करते नही थकते । अपने कर्त्तव्य पालन न कर सकने की दुर्बलता को हमने विशिष्टता बना दिया है ।

आदिकाल से साहित्यकारों ने प्रकृति को जननी, या सहचरी माना था । बड़े-बड़े कवि षड्ऋतु वर्णन करते थे—प्रकृति के साथ मानसिक भावो का सामंजस्य बिठा समीकरण देते थे, जो आज वैज्ञानिक माने जाते हैं । कविता का भाव पक्ष, प्रकृति की शरणस्थली से गाम्भीर्य और प्रामाणिकता पाता था, इसीलिए रामकथाओं में कही राम वनगमन कर रहे हैं तो पतझड़ का वर्णन कवि करता है, जनक के घर विवाह सम्पन्न हो रहा है तो वसंत ऋतु चल रही है, वियोग में शरद और पावस पर कवि विचार-साम्य प्रस्तुत करते थे ।

प्रकृति का सम्बन्ध रीतिकालीन कवियों ने खो दिया था, जो पाश्चात्य साहित्य में रोमांटिसिज्म द्वारा शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ ने तथा हिंदी में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने छायावाद के माध्यम से दोबारा स्थापित करने की कोशिश की ।

किन्तु अब प्रकृति वर्णन अप्रासंगिक माना जाता है। पुरुष प्रकृति के समीप नहीं जाता अपितु प्रकृति को बलात् निकट लाने की कोशिश कर रहे शहरीकरण ने पहले लॉन संस्कृति को जन्म दिया—अब मकान छोटे होते हैं; हम वे पौधे लाते हैं जो बिना या कम पानी के उगते हैं। कैक्टस हमें क्या देता है पर हम उसे ड्राईगरूम में बिठा रहे हैं, बल्कि नकली पौधे ला रहे हैं। हम भ्रम में जी रहे हैं—नकल में अकल दिखा रहे हैं पर असल से दूर होते जा रहे हैं।

यद्यपि हम कहते यही हैं कि आज हम एक 'ग्लोबल विलेज' की कल्पना कर रहे हैं पर स्वयं छोटे होते जा रहे हैं—हम लघु-मानव हैं, हम पौधों को, वृक्षों को छोटी करने की कला को जान गए हैं, हम बोन्साई देख खुश होते हैं। लघुमानव हैं, बोंसाई संस्कृति की फसल उगा रहे हैं। हम शहर में हैं—नागरिक कहलाते हैं। ग्रामवासी का दूसरा सम्बोधन 'ग्राम देवता' क्यों होता था—भूलने लगे हैं।

हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी नहीं है, जो हमें प्रकृति के निकट लाए। गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांति निकेतन के माध्यम से एक प्रयोग किया था, जहाँ विद्यार्थी प्रकृति से जुड़े रहते थे, वही पद्धति चाहिए। ऐसा पाठ्यक्रम चाहिए जिसमें फूल हों, पर्वत हों, गंगा की लहरें हों, अंतहीन दिशाएं हों; तभी हम वैदिक युग की ओर बढ़ेंगे अन्यथा इक्कीसवीं सदी आए या इक्कीस हज़ारवी, हम कलियुग के भयावह पंजों से मुक्त नही हो पायेंगे।

शिक्षा ऐसी मिले, जो 'सत्यं शिवं सुदरं' पर आधारित हो पर आज तो वह ऐसी है, जिसमें सुंदरता आभासित हो सकती है, कुछ व्यक्तिगत शिवं भी कर सकती है पर सत्यं कदापि नहीं है। तभी तो मूल्य नहीं बन पा रहे। मूल्यहीन समाज की विसंगतियाँ दिखने में समर्थ लगती हैं परन्तु वास्तव में कारूणिक हैं, त्रासद हैं। शिक्षा के माध्यम से ही मूल्य मूल्यवान बन सकते हैं परन्तु नवीन शिक्षा एक ओर अर्थहीन है और दूसरी ओर वित्त वाले अर्थ सत्य को उद्घाटित करती है। नयी पीढ़ी के कुछ युवक-युवतियों को एक पत्रिका द्वारा एक सर्वे के अंतर्गत जब इंटरव्यू किया गया तो सभी ने जीवन का लक्ष्य "खूब धन कमाना ही" घोषित किया। सामाजिक वातावरण निस्संदेह स्वच्छता की मांग कर रहा है। मानसिक प्रदूषण समस्त पर्यावरण को बिगाड़ रहा है। बिगड़ते और निरंतर बिगड़ते पर्यावरण में हम मूल्यों की सार्थकता खोते जा रहे हैं।

आज का हमारा केंद्रीय नारा यही होना चाहिए कि 'विचारों की शुद्धता के लिए पर्यावरण शुद्ध रखें तभी और केवल तभी मूल्य हासिल होंगे और हम दो रुपए में से कम-से-कम 50 पैसे तो गुलाब खरीदने के लिए खर्च करने को तत्पर होंगे—आज तो उसके लिए हमारे बजट में स्थान ही नहीं है।

कविवर रामधारी सिंह दिनकर की पंक्तियां हमारे बाह्य तथा आंतरिक प्रदूषण को समाप्त कर शुद्ध पर्यावरण की ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं :

सच्चाई की पहचान का पानी साफ रहे
जो भी चाहे देख ले जलाशय के तल को
वे सच्चाई का भेद छिपाते हैं केवल
जो जानबूझ गंदला करते अपने जल को।

□

तुलसी-साहित्य में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बीज

डॉ. पूरनचंद टंडन

तुलसीदास ने लिखा है, 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'। यही बात तुलसी–साहित्य के साथ भी घटित होती है। तुलसी साहित्य एक है परन्तु विद्वानों ने उसकी अनेक रूपों मे व्याख्या की है। तुलसी–साहित्य के एक ऐसे ही भिन्न पक्ष का विश्लेषण कर रहे है पूरनचंद टंडन।

भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य-संसार केवल विशाल जनसमूह को आकर्षित करने का साधन मात्र नही है, वरन् वह एक ऐसी रत्न-मंजूषा है जो अपने दिव्य प्रकाश से लोक-हृदय एवं लोक-मस्तिष्क को परिष्कृत करके उसके भीतर सांस्कृतिक अस्मिता की उत्कृष्ट भावना को देदीप्यमान कर देती है। आज के तथाकथित आधुनिक युग में जिस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चर्चा जोरों-शोरों से की जा रही है, यदि उसका मूल उत्स साहित्यिक ग्रंथों में ढूंढा जाए तो निश्चित रूप से उसके बीज तुलसी-साहित्य में ही दृष्टिगत होंगे। वस्तुतः किसी भी कवि या विचारक को दो आधारों पर मूल्यांकित करने की परम्परा आज के आलोचना जगत की मूल आवश्यकता बन गई है। आलोचकों की पहली दृष्टि कवि को मात्र काव्यशास्त्रीय लक्षणों एवं परिभाषाओं के आधार पर परखती है तथा दूसरी दृष्टि उसे समाज एवं राष्ट्र के मूल्यों के आधार पर मूल्यांकित करने का प्रयास करती है। इनमें से द्वितीय दृष्टि अधिक विस्तृत एवं गहन प्रतीत होती है क्योंकि उसके माध्यम से कवि के काव्य-वैभव के समस्त परत-दर-परत

स्वयं आवरण मुक्त होते जाते हैं। तुलसी का आविर्भाव इतिहास के ऐसे विप्लवकारी युग में हुआ था जब चहुं ओर विनाशकारी शक्तियां सुरसा की भांति मुंह फैलाए खड़ी थीं। मुगलों के अत्याचार दिन-प्रतिदिन भयावह रूप धारण करते जा रहे थे। राष्ट्र की अस्मिता पर विदेशी शासकों ने अपने दुराचरों की काली छाया फैला दी थी। भारतीय संस्कृति के मूल्यों पर कुठाराघात किया जा रहा था। समाज में बाह्याडम्बरों के साम्राज्य से अशान्ति एवं विद्रोह की भावनाएं बलवती होने लगी थीं.। राष्ट्र टुकड़ों में विभक्त हो गया था तथा प्रत्येक संकुचित भूखण्ड का एक पृथक शासक अपने आप को जनता का मुक्तिदाता एवं प्राणदाता समझने लगा था। इस प्रकार खण्डित राष्ट्र की राष्ट्रीयता भी खण्डित हो गई थी। यद्यपि सर्वाधिक लोकप्रिय मुगल सम्राट अकबर ने सती-प्रथा के उन्मूलन, विधवा-विवाह के आरम्भ तथा हिन्दुओं के साथ वैवाहिक संबंधों की स्थापना करके बिखरे हुए राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न अवश्य किया था किन्तु उसके पीछे छिपे मुगलो के स्वार्थ को अनदेखा नहीं किया जा सकता। तुलसीदास ने मुगलों के इस षड्यन्त्र को, मस्तिष्क की कल्पनामात्र कहा है। यह एक राजनैतिक इकाई है, जिसमे एक जन-समुदाय विविधताओं के होते हुए भी भाषा, धर्म, संस्कृति, शासन आदि की एकता के आधार पर एक निश्चित भू-भाग में समन्वय की भावना के साथ निवास करता है।

एक स्वस्थ एवं उन्नत राष्ट्र के निर्माण में भौगोलिक एकता, जातीय एकता, भाषायी एकता, आर्थिक एकता तथा राजनैतिक एकता का तो महत्वपूर्ण योगदान है ही क्योंकि इनमें से कोई भी एक तत्व जब एक विशिष्ट गरिमा से युक्त हो जाता है तथा अन्य तत्व गौण रूप से विद्यमान रहते हैं तब एक राष्ट्र का निर्माण हो जाता है, किन्तु सांस्कृतिक एकता का महत्व इन सभी तत्वों से कही अधिक स्मरणीय है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा होती है। जिस प्रकार मानव-देह का अस्तित्व अथवा उसका जीवन आत्मा की स्थिति में ही स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार राष्ट्र की जीवन शक्ति का मूलाधार भी उसकी आत्मा अर्थात् संस्कृति ही है। यद्यपि व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति का अर्थ भूषणभूत सम्यक् कृति है किन्तु व्यापक अर्थ में यह उन समस्त कृतियों अथवा चेष्टाओं की सूचक है जिनके द्वारा मानव अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों—आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक— में उन्नति करता हुआ एक सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण करता है। एक राष्ट्र यदि राजनैतिक दृष्टि से बंधा हुआ हो अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र में भाषायी एकता विद्यमान हो, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह विश्रृंखलित हो तो राष्ट्र का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। पृथक-पृथक् आशाएं-आकांक्षाएं कदापि राष्ट्र की उन्नति एवं प्रगति के विषय में विचार नही करने देगी। मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थों मे तल्लीन होकर राष्ट्र के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर ध्यान ही नही देगा। एक ही राष्ट्र में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को अपनाने वाले अनेक जन-समुदाय उदित हो जाएंगे, जो अन्ततः संघर्ष का भयावह रूप अपनाकर राष्ट्रीय गौरव

को ही खण्डित करेंगे। ऐसी विनाशकारी स्थिति में विभिन्न नैतिक मूल्य, धार्मिक दृष्टिकोण, समन्वयात्मक दृष्टि, सहिष्णुता की भावना आदि विविध सांस्कृतिक तत्व ही मनुष्य के मन-मस्तिष्क में सौहार्द्र के बीज अंकुरित करके उसे राष्ट्रीय हित के विषय में विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जब एक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का निर्माण हो जाता है तब बाहरी शक्तियां उस राष्ट्र की उन्नति के मार्ग में भले ही सहस्रों रुकावटें उत्पन्न करें, विभिन्न कूटनीतियों के द्वारा राष्ट्रीय एकता को खण्डित करने का प्रयास करें अथवा उसकी भौगोलिक सीमाओं को अपने अधीन करना चाहे, किन्तु इन प्रयासों में उन्हें कदापि सफलता नहीं मिल सकती। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक सुदृढ़ राजनैतिक इकाई है, जिसे तोड़ना अथवा हानि पहुंचाना सहज नही है।

राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय चरित्र, लोकधर्म और लोककल्याणकारी राज्य की मूल चेतना प्रदान करने वाले तुलसी-साहित्य की सबसे बड़ी देन यह है कि उसमें संस्कृति एवं राष्ट्रवाद की भावनाओं को जोड़कर पहली बार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चर्चा की गई है। यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि राष्ट्रवाद सम्प्रदायवाद अथवा जातिवाद की तुच्छ धारणाओं का सम्मिलित रूप है, उसमें स्वार्थ की गंध विद्यमान है तथा वह 'वसुधैव कुटुम्बकम' की मान्यता का खण्डन करने वाली विचारधारा है। किन्तु ये सभी मत निराधार एवं निरर्थक हैं। मानव चरित्र का विकास करने वाले विविध तत्वों की पुंज 'संस्कृति' तथा राष्ट्र के हित को सर्वोपरि मानने वाले 'राष्ट्रवाद' के भाव का सम्मिलित रूप संकुचित एवं हानिप्रद कैसे हो सकता है। अपनी पहचान को बनाए रखना; अपने मूल्यों को समय की आंधी में धूमिल होने से बचाना; नैतिक-मूल्यों का पक्षधर होना; अन्याय, असत्य, अत्याचार का विरोध करना; आध्यात्मिक दृष्टिकोण को बढ़ावा देना तथा धर्म का साथ देना यह तो मानव जीवन की कुछ आवश्यक शर्तें हैं। इनकी अवहेलना करने का अभिप्राय है अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से मुख मोड़ना। अतः स्पष्ट है कि तुलसी साहित्य में जिस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बीज विद्यमान हैं, वह युग-चेतना एवं युग-बोध का ही प्रतिफलित रूप हैं। मध्यकालीन विश्रृंखलित समाज को जोड़ने के लिए तथा संस्कृति के तत्वों के अधोपतन को रोकने के लिए तुलसी ने रामराज्य का जो रूप प्रस्तुत किया था, वह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का ही समर्थन करता है। उनकी समन्वयात्मक दृष्टि विरोधी प्रतीत होने वाले समस्त तत्वों को एकाकार कर ह्रासोन्मुख राष्ट्र को लोक-धर्म का ऐसा मार्ग दिखाती है, जिस पर चलकर राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य अवनति को उन्नति में परिणत करने की क्षमता से परिपूर्ण हो जाता है तथा इसी शक्ति एवं विश्वास के आधार पर वह राष्ट्र का बहुमुखी विकास करता हुआ विश्व के अन्य राष्ट्रों के बीच अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को स्थापित कर देता है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व 'धर्म' है क्योंकि धर्म ही वह शक्ति

है जो मनुष्य को बाह्य दृष्टि प्रदान करने के साथ-साथ उसे अंतर्दृष्टि भी प्रदान करती है तथा इन्ही दोनों दृष्टियों के उचित सामंजस्य के परिणामस्वरूप मनुष्य के हृदय में समष्टि का विचार जागृत होता है। शाब्दिक दृष्टि से धर्म शब्द धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अतः 'धार्यते इति धर्मः' अर्थात् जो धारण करे वही धर्म है। धर्म ही प्रजा एवं राष्ट्र को धारण करता है। वर्तमान युग में धर्म को रिलिजन, मजहब, सम्प्रदाय आदि का पर्याय मानने वाली जो सोच उत्पन्न हुई है, वह वस्तुतः धर्म के वास्तविक स्वरूप का मर्दन कर संकुचित एवं घृणास्पद मानसिकता को ही व्यक्त करती है। धर्म की सत्ता तो सार्वभौमिक होती है, उसे किसी देश-काल की सीमा में आबद्ध नही किया जा सकता। सम्पूर्ण मानव जाति का केवल एक ही धर्म है- मनुष्यता का पालन करना। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसके विकास क्रम की सभी अवस्थाओं का संचालन धर्म के माध्यम से ही होता है। धर्म भारतीय वाङ्मय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। वह एक ऐसे भाव का वाहक है जो मानव-शरीर, हृदय और आत्मा को पवित्र बनाता है। महामुनि कणाद ने धर्म के इसी रूप को स्वीकार करते हुए इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—'जिससे अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि होती है, वही धर्म है।'[3] अर्थात् जिस तत्व के द्वारा मनुष्य लौकिक एवं अलौकिक, दोनों क्षेत्रो में वृद्धि करता हुआ अपने जीवन के उद्देश्य को पूर्ण करता है, वही धर्म है। इसी तत्व के माध्यम से मनुष्य के व्यक्तित्व में क्षमा, दया, अक्रोध, त्याग, धैर्य आदि विभिन्न नैतिक गुणों का आविर्भाव होता है तथा इसी से वह उचित-अनुचित का विवेक प्राप्त कर प्रगति की ओर अग्रसर होता है।

गोस्वामी तुलसीदास भारतीय संस्कृति के निष्ठावान गायक हैं। उनके काव्य में जहां एक ओर उनके आराध्य देव राम के मर्यादित चरित्र का यशस्वी वर्णन मिलता है, वही दूसरी ओर आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की उत्कृष्ट मूल्य मीमांसा भी देखी जा सकती है। लोकमंगल की भावना से परिपूर्ण उनका समस्त वाङ्मय सत्यं, शिवं, सुन्दरम की व्यापक परिधि मे ही रचा गया है। तुलसी के युग में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय नैतिक जीवन का अत्यधिक ह्रास हो रहा था। सत्ताधारी वर्ग स्वच्छंद होकर अमर्यादित नीतियों का पालन करना ही अपना मूल धर्म समझ बैठा था। सदाचार, सत्य तथा संयम अत्याचार, आडम्बर एवं विलासिता का चोला धारण कर चुके थे। मनुष्य के हृदय से श्रद्धा तथा आदर भाव लुप्त हो गए थे तथा अनीति, अराजकता, स्वार्थ, मिथ्या आचरणों का साम्राज्य चहुं ओर फैल गया था। ऐसे विनाशकारी युग में भारतीय संस्कृति की रक्षा करने तथा खण्डित राष्ट्र को सुदृढ़ सम्बल प्रदान करने के लिए तुलसीदास ने मनुष्य को उसके धर्म से अवगत कराना ही अपना परम कर्त्तव्य समझा। इसके लिए उन्होंने अपने साहित्य में सत्य पर आधारित तपःपूत आचरण का ऐसा

व्यापक चित्र प्रस्तुत किया, जिसमें राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई मनुष्य से लेकर विस्तृत समाज तक की नैतिक मर्यादाओं एवं धार्मिक उद्देश्यों का पूर्ण रूप समाविष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम उन्होंने शुभ कर्मों के मार्ग में आने वाले तीन प्रमुख रोड़ों- काम, क्रोध, मोह को निकालकर बाहर फेंकने का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने स्पष्ट लिखा है-

"तात तीनि अति प्रबल खल, काम, क्रोध अरु लोभ।
मुनि विग्यान धाम मन करहिं निमिष महं छोभ ॥'[4]

तुलसी की दृष्टि में परोपकार सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसी भावना के द्वारा मनुष्य 'स्व' की संकुचित परिधि से बाहर निकलकर 'राष्ट्र' के अन्य सदस्यों के समीप आता है। स्वार्थ तथा परपीड़न शून्य में मिल जाते हैं तथा सर्वहित कामना सर्वोपरि हो जाती है। इसी प्रकार अहिसा से निःसृत क्षमा का भी विशिष्ट महत्व है। तुलसी का मत है—

'दया धरम को मूल है पाप मूल अभिमान
तुलसी दया न छोडिये जब लागे घट में प्रान।' [5]

दया एवं परोपकार की भावना मनुष्य के भीतर से दानवी प्रवृत्तियों को निष्कासित करके देवी प्रवृत्तियो को प्रबल कर देती है। तुलसी के राम में इन समस्त गुणों का वैभवशाली रूप देखा जा सकता है। अपने परोपकारी गुण के कारण ही वे अपने शत्रुओं को भी धन-धान्य से सम्पन्न कर देते हैं। मित्रों पर तो उनकी कृपा दृष्टि सदैव बनी ही रहती है। मूलतः प्राणी मात्र के प्रति दया भाव से प्रेरित होकर ही उन्होंने अवतारी रूप धारण किया था। इन नैतिक गुणों के अतिरिक्त तुलसीदास ने शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, विवेक, समता, संतोष, दान, कृपा आदि सामान्य धर्मों का प्रतिपादन भी अपने काव्य-ग्रंथों में किया है। इन आदर्शों के मूल में लोक कल्याण की भावना अन्तर्निहित है तथा लोक से संबंधित सुविचार ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के निर्माण में सुदृढ़ नीव का कार्य करते हैं।

वैदिक काल से लेकर आज तक जितने भी धार्मिक ग्रंथ साहित्य-समाज के समक्ष उपस्थित हुए हैं, उन सब में सत्य को धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्तम्भ माना गया है। कभी 'सत्यमेव जयते नानृत्य'[6] कहकर इसके महत्व को रेखांकित किया गया है, तो कभी 'सत्य दया तथा शान्तिर्हिंसाचेतिकीर्तिताः'[7] कहकर धर्म के चार पैरों में सत्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। तुलसीदास ने भी सत्य को परम धर्म मानकर उसी में समस्त मानवीय मूल्यों का समावेश स्वीकार किया है। रघुकुल की रीति ही यही है- प्राण-त्याग कर भी सत्य पर अविचलित होकर डटे रहना। दशरथ के मुख से उन्होंने स्पष्ट कहलवाया है—

"नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए ॥"[8]

यह तो एक सार्वभौमिक तथ्य है कि किसी भी राष्ट्र, समाज अथवा अन्य किसी भी

राजनैतिक इकाई, सामाजिक बंधन, मानवीय रिश्तों का मूलाधार सत्य एवं विश्वास की धुरी पर ही टिका होता है। सत्य के अभाव में विश्वास का अस्तित्व शून्य हो जाता है तथा विश्वास की डोर टूटते ही मजबूत से मजबूत बंधन भी शिथिल पड़ जाते हैं। मानव का मानव पर विश्वास न होना ही संघर्ष का मूल कारण बनता है, यही से विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है तथा राष्ट्र का सांस्कृतिक गौरव धूमिल हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि तुलसी ने 'धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना' कहकर जिस तत्व की व्याख्या की है, वह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विकास एवं उन्नति के लिए परम आवश्यक है। इसी प्रकार विवेक एवं बल- दो ऐसे तत्व है, जिनके अभाव में स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना ही नही की जा सकती है। सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित आदि मे भेद स्थापित करने वाली सूक्ष्म बुद्धि को ही विवेक कहा जाता है। विवेकशील प्राणी ही राष्ट्र के लिए चितन करके, उसकी अवनति के कारणो का परिहार करके, शत्रुओ के हृदय के कटु भाव को मृदुता में परिणत करके, सांस्कृतिक- सामाजिक मूल्यो की रक्षा करके राष्ट्र के समुचित विकास मे अपना बहुमूल्य योगदान दे सकता है। तुलसी के राम विवेकशील हैं तथा रावण उचित-अनुचित के विवेक से पूर्णतः शून्य है। यही कारण है कि अन्ततः विजय धर्म के प्रहरी राम की ही होती है। विवेक जब शक्ति सम्पन्न हो जाता है, तब उसका महत्व दुगुना हो जाता है। यहां शक्ति से अभिप्रायः मात्र शारीरिक बल नही है वरन् उसमे आत्मिक एवं बौद्धिक बल का भी समावेश माना गया है। यदि ये तीनो शक्तियां एक स्थल पर एकत्रित हो जाएं, तो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को खण्डित करने का विचार मात्र कल्पना का विषय बनकर रह जाता है। रामचरितमानस में जनक अपनी पुत्री सीता के लिए इन्ही शक्तियो से सम्पन्न वर के अभाव को देखकर ही स्वयंवर के आयोजन मे पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं—

"रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सकै छुड़ाई।
अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।"[9]

यदि किसी राष्ट्र के निवासियो के भीतर धर्म के ये सभी तत्व विद्यमान हों, वे नैतिक एव सामाजिक मूल्यों के महत्व को आत्मसात करके उनके क्रियान्वयन के प्रति सजग हों तथा वे शक्ति का प्रयोग दूसरो के मूल्यों को दमित करने के लिए नही वरन् अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए करें, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस राष्ट्र का कीर्ति-ध्वज सहस्रो वर्षो तक अपना उज्ज्वल प्रकाश सम्पूर्ण विश्व में विकीर्ण करता रहेगा।

यह तो सत्य है कि राष्ट्र की नीव प्रजा होती है। प्रजा के सहयोग एवं विश्वास के आधार पर ही शासन का कार्य सम्पन्न होता है किन्तु राष्ट्र का भविष्य शासक की योग्यता एवं अयोग्यता पर भी निर्भर करता है। साहस, बल, पराक्रम, शौर्य, विवेक तथा नीति का

ज्ञाता राजा ही शासन की बागडोर सही रीति से चला सकता है। तुलसीदास ने अपनी काव्य-कृतियों में राजनीतिक व्यवस्था का जो आदर्श रूप प्रस्तुत किया है वह तत्कालीन प्रजातन्त्र का ही बीज रूप है, किन्तु आज राजनीति में सम्प्रदायवाद, जातिवाद आदि के जो विषैले कीटाणु पनप रहे हैं, तुलसी ने कदापि उनका समर्थन नही किया, वरन् वे तो उन सबके कटु आलोचक थे। रामराज्य के विस्तृत चित्र के माध्यम से उन्होंने भारतीय राष्ट्र को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रदान किया है। प्राचीन भारतीय राजविदों ने राजा के जिन गुणों—धर्मपरायण, नीतिज्ञ, अभिमान शून्य, विनम्र, शील, शूरवीर, शरणागत वत्सल, त्यागी, निर्भीक तथा साधु स्वभाव आदि की चर्चा की है तथा राजा के जिन कर्त्तव्यों—प्रजा-रक्षण तथा प्रजा-पालन को रेखांकित किया है, वे सभी राम के आदर्श रूप में देखे जा सकते हैं। शुक्राचार्य के अनुसार तुलसी का भी मत है कि राजा को नीति-निपुण होना चाहिए। जिस प्रकार माली मुरझाए हुए पौधों को सीचता है, झुके हुए पौधों को सहारा देता है, व्यर्थ के पौधों को काटकर अलग फेंकता है, फल-फूलों को संगृहीत करता है उसी प्रकार राज्य को अपना मजबूर आधार प्रदान करना, कमजोर वर्गों को आश्रय प्रदान करना, नाशक तत्वों को उखाड़कर बाहर फेंकना राजा का अनिवार्य गुण है। जिस प्रकार सूर्य समुद्र तथा नदी से इस प्रकार जल लेता है कि प्रत्यक्ष में न तो उन्हें इसका बोध होता है और न दुःख किन्तु जब वह बादल बनकर पृथ्वी पर बरसता है, तो चहुं ओर खुशहाली फैल जाती है, इसी प्रकार राजा को प्रजा को कष्ट दिए बिना ही कर एकत्रित करने चाहिएं तथा एकत्रित धन का प्रयोग प्रजा-कल्याणार्थ ही करना चाहिए। राजा का कार्य एक किसान की भांति होता है। जिस प्रकार किसान खेत तैयार कर उसमें बीज बोता है, खाद डालता है, सीचता है, रक्षा करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा के कल्याणार्थ उसका पालन-पोषण तथा रक्षा करता है—

"माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भागबस होहिगे कबहुं कबहुं कलिकाल॥" 10

दूसरों के प्रति हीनता एवं अपने प्रति महानता का भाव रखने वाला शासक शासन करने योग्य नही होता। प्रजा उसका विरोध करती है तथा शनैः शनैः उसका शासन स्वयं नष्ट हो जाता है। तुलसी ने दर्पहीन राजा को तीनों लोकों का दीपक घोषित करते हुए लिखा है—

"सघन सगुन सधरम सगन सजन सुसबल महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन ते त्रिभुवन के दीप॥" 11

राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र से द्वेष रखने वाले विनाशक शत्रुओं का नाश करे। राम-लक्ष्मण ने ऋषि-मुनियों के यज्ञ में व्यवधान डालने वाली आसुरी शक्तियों—ताड़का, मारीच, सुबाहु आदि को नष्ट करके अपने इसी कर्त्तव्य का पालन

किया था। यह भी कहा जा सकता है कि राजा दशरथ का मुनि विश्वामित्र के आग्रह पर क्षत्रिय कुमारों—राम-लक्ष्मण को मुनि जनों के रक्षणार्थ भेजना उनके प्रजा-रक्षण भाव को सूचित करता है। राम अपने तेज बाणों की नोक से राक्षसों का वध करके ऋषिगणों को भयमुक्त कर देते हैं—

"एक तीर ताके हती ताड़का, विद्या विप्र पढ़ाई।
राख्यो यज्ञ जीति रजनीचर, भइ जगविदित बड़ाई ॥" 12

चौदह वर्ष का वनवास करते समय राम अपनी भुजाएं उठाकर पृथ्वी को निशीचर हीन कर देने की जो प्रतिज्ञा करते हैं, वह उनके प्रजा-रक्षक रूप का ही बोध कराती है। तुलसीदास के अनुसार राजा में पिता के समान पालकत्व का गुण होना चाहिए। जिस प्रकार पिता के समस्त कार्य संतान की भलाई को ध्यान में रखकर सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार राजा को भी अपनी सन्तानवत् प्रजा के हित में ही राज कार्यों को रूप प्रदान करना चाहिए। उसे किसी एक वर्ग, सम्प्रदाय अथवा समूह का पक्ष न लेकर नीर-क्षीर न्याय की दृष्टि अपनानी चाहिए अन्यथा प्रजा में असंतोष की चिगारी भड़क कर सम्पूर्ण राज्य को ही जलाकर नष्ट कर देगी। तुलसीदास ने राजा को मुख के समान माना है जो खाने-पीने के लिए तो एक ही है, परन्तु विवेक के साथ समस्त अंगों का पालन-पोषण करता है—

"मुखिआ मुख सो चाहिए खान पान कहुं एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहति बिबेक ॥"" 14

राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए राजा एवं प्रजा के मध्य एक सद्भाव अपेक्षित रहता है। मात्र राजा के सद् प्रयत्नों से राज्य का वैभव स्थायी नही रहता। जब तक प्रजा अपने कर्त्तव्यों एवं आदेशों का पालन उचित रीति से नही करेगी, तब तक राजतंत्र के सूत्र बिखरे रहेंगे। तुलसी के रामराज्य में प्रजा राजा के आदेशों का पालन करने वाली है। अपने राजा के प्रति उनके हृदय में आदर एवं सम्मान का भाव है। राजा यदि प्रजा का सन्तानवत् पालन करता है, तो प्रजा राम को पितृ तुल्य मानकर उससे अतिशय प्रेम करती है। यही कारण है कि राम-वनवास गमन का दुःखद समाचार सुनकर समस्त अयोध्या नगरी विषादग्रस्त हो जाती है तथा उनके साथ वन में जाने के लिए तत्पर हो जाती है। रामाज्ञा प्रश्न में तुलसीदास ने अयोध्यावासियों की इसी अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

"अवध सोक संताप बस, बिकल सकल नर नारि।
बाम विधाता राम बिनु, मांगत मीचु पुकारि ॥" 14

यही भाव रामचरित मानस में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

"जरहिंविषम जर लेहि उसासा। कठिन राम बिनु जीवन आसा।
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचर गन सूखत पानी ॥" 15

इस दशा में भी राम प्रजा-कल्याण के भाव से शून्य नहीं होते। पितृ-प्रेम, भातृ-प्रेम,

मातृ-प्रेम, प्रजा-प्रेम उन्हें पुनः लौटाकर अयोध्या नही लाता। वे प्रजा से विनययुक्त वचन कहते हैं कि 'हे नगरवासियों। आप सभी वही उपाय करना जिससे मेरी माताएं विरह से व्याकुल न हों तथा सुमन्त्र के द्वारा भरत के लिए संदेशा भेजते हैं कि वे राजपद को प्राप्त कर नीति को विस्मृत न करें, मन-वचन और कर्म से प्रजा-पालन में ही रत रहें और सभी माताओं की समान भाव से सेवा करें—

"कहब संदेसु भरत के आएं। नीति न तजिअ राजपदु पाएं।
पालेहि प्रजहि करन मन बानी। सेएहु मातु सकल समजानी॥" 16

स्पष्ट है कि जहां राजा सत्य, शील, शक्ति, विनय, प्रजावत्सल आदि गुणों से युक्त होगा तथा प्रजा अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति सजग होगी, वहां शासन व्यवस्था का रूप कितना उत्कृष्ट होगा। यही पर तुलसीदास जी ने शासन-व्यवस्था के अन्य सहयोगियों तथा तंत्रों का भी व्यावहारिक रूप उद्घाटित किया है। राजा अपने मंत्रियों तथा परिषद् के सदस्यों से विचार-विमर्श करके ही शासन के कार्य उचित रीति से सम्पन्न करता है। तुलसीदास ने विभिन्न अमात्यों, मंत्रियों एवं दूतों के महत्व एवं गुणो को स्पष्ट शब्दो मे अभिव्यंजित किया है। उनका विश्वास है कि राजा अपनी प्रजा, राजसमाज, घर, अपना शरीर, धन, धर्म और सेना सुयोग्य मंत्रियो के हाथ सौंपकर ही सुख-शांति से रह सकता है किन्तु इन मंत्रियो को चापलूस, डरपोक, स्वार्थी या अहंकारी नही होना चाहिए क्योकि इन अवगुणों से युक्त मंत्रियों के परामर्श से राज्य, धर्म तथा शरीर का नाश शीघ्रातिशीघ्र हो जाता है। तुलसी की दृष्टि में मंत्री जीभ, राजा पेट तथा अन्य कर्मचारी दांत के समान है। जिस प्रकार दांत भोजन को चबाकर और जीभ उसका स्वाद लेकर लार के साथ उसे पेट में पहुंचा देती है, उसी प्रकार मंत्री तथा कर्मचारीगण राजा के लिए अपना-अपना कार्य उचित रीति से करते हैं तथा राजा उन सबका पालन-पोषण करके उन्हें संतुष्ट करता है। सेना तथा पदाधिकारी राजा के हाथ और पैर हैं। जैसे हाथ-पैर, पेट की रक्षा करते हैं तथा पेट उन्हें पालता है, वैसे ही सेना तथा अधिकारी राजा एवं शासन की रक्षा करते हैं तथा राजा उनका पालन-पोषण करता है। राजा की स्थिति माता-पिता के समान है तथा प्रजा उनकी संतान है। जैसे माता-पिता अपनी संतान का पालन-पोषण एवं रक्षण करते हैं, वैसे ही राजा सम्पूर्ण राज-समाज की रक्षा करता है—

"रसना मंत्री दसन जन तौष पौष निज काज।
प्रभु कर सेन पदादिका बालक राज समाज॥" 17

वर्त्तमान भारत राष्ट्र में राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत जिस जनमत को सर्वोपरि माना जाता है, उसका मूल बीज रामराज्य की राजव्यवस्था में विद्यमान है। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम तुलसी ने जनता को आलोचना का अधिकार प्रदान करके लोकतांत्रिक सरकार

के महत्व को रूपायित किया है। युवराज पद के अधिकारी राम को चौदह वर्ष का वनवास दिए जाने का समाचार सुनकर समस्त अयोध्यावासी राजा दशरथ एवं रानी कैकेयी की कटु आलोचना करते हैं। रानी कैकेयी को तो पापिनी, कुटिल, कुबुद्धि कहकर धिक्कारा ही गया है, राजा दशरथ को भी विवेक का आश्रय लेकर वर देने की सलाह दी जाती है। यहां प्रजा न्याय एवं धर्म का साथ देने के लिए राजा का विरोध करने में संकोच नही करती वरन् आगे बढ़कर अन्याय को रोकने का साहस करती है, जो वास्तविक लोकतंत्र के सर्वथा अनुकूल है—

"एक कहहि भलभूप न कीन्हा। बरु विचारि नहि कुमति दीन्हा।
जो हटि भयउ सकुल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यानु गुनु गा जनु।
एक धरम परिमिति पहिचाने। नृपहि दोस नहि देहि सयाने।" 18

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भावना तभी पल्लवित होती है जब किसी राष्ट्र के सदस्यों में राजनीतिक दृष्टि से उपर्युक्त वर्णित समस्त विशेषताएं विद्यमान हों तथा मानव संस्कृति के सभी तत्त्वो के मध्य समभाव की स्थिति हो। समभाव की स्थिति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि राष्ट्र में व्याप्त समस्त मानवीय मूल्यों एवं अन्य तत्वों के मध्य समन्वय स्थापित किया जाए। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता ही समन्वयवाद है। यहां भिन्न-भिन्न मतो को मानने वाले व्यक्ति, विविध सम्प्रदायों में विभक्त मनुष्य एक-दूसरे की आलोचना की अपेक्षा सबमे समन्वय स्थापित करने के पक्षधर है। तुलसी ने भी इसी सांस्कृतिक विशेषता के आधार पर अपने समय मे प्रचलित विभिन्न मतभेदों को समाप्त कर एक सुसंस्कृत राष्ट्र के निर्माण का अद्‌भुत स्वप्न देखा था। उनकी समन्वयवादिता सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रो मे स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। समाज मे रहने वाले उच्च एवं नीच वर्ग, शैव एवं वैष्णव, द्वैत एवं अद्वैत, निर्गुण एवं सगुण, भक्ति की उपासना पद्धतियो-ज्ञान एवं भक्ति, विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों—राम एवं कृष्ण, राजा एवं प्रजा, स्वामी एवं सेवक के मध्य जिस सौहार्द्र की स्थापना तुलसी ने की है, वह न तो उनसे पूर्व किसी साहित्यकार की रचना में देखने को मिलती है और न ही उनके पश्चात् अर्थात् आज तक किसी रचनाकार की कृति का अंग बनी है। भारतीय संस्कृति के मूल्यों के कोश तुलसी-साहित्य का महत्व इस दृष्टि से और अधिक बढ़ जाता है।

राष्ट्रवाद की प्रबल धारणा में दार्शनिक एवं मान्यताओं का मतभेद एक व्यवधान उपस्थित कर देता है। ईश्वर जो सर्वव्यापक है, जिसकी इच्छा से इस संसार का आविर्भाव हुआ है और जिसकी आज्ञा के बिना यहां का पत्ता भी नही हिल सकता, उसके स्वरूप में वैविध्य मनुष्यों के हृदयों में भेदभाव का कारण बने—यह तुलसी को ग्राह्य नही था। इसीलिए उन्होंने कहा कि राम एक है। वह ही निर्गुण एवं सगुण, निराकार एवं साकार, गुणातीत एवं गुणाश्रय, अंतर्यामी एवं बहिर्यामी है। भक्तों एवं सज्जनों के स्नेहवश ही

निराकार ब्रह्म साकार रूप धारण करता है, दोनों में कोई विरोध नहीं है। अतः ईश्वर के स्वरूप को लेकर विवाद करना अथवा राष्ट्र की अखण्ड शक्ति को खण्डित करना उचित नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरे मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें ॥"[19]

तुलसी के युग में शैव-शाक्त-वैष्णव—तीन धार्मिक सम्प्रदाय प्रबल थे। समाज का कोई वर्ग अपने आप को वैष्णव कहकर शाक्त मतावलम्बियों की आलोचना करने में संलग्न था, तो कोई वर्ग अपने को शिव का परम उपासक मानकर शक्ति का विरोध कर रहा था। समाज की इस विश्रृंखलता को दूर करने का सबसे सुगम एवं श्रेयस्कर मार्ग यही था कि इन विरोधी प्रतीत होने वाली धारणाओं के मध्य एक ऐसे सेतु का निर्माण किया जाए, जो सभी मतों को एक ही कड़ी मे पिरो सके, जिसके माध्यम से शैव-शाक्त-वैष्णव के अन्तर में निहित मूल तत्व उभर कर सामने आ सके तथा जो मानव समाज के मन-मस्तिष्क में सहृदयता की भावना का संचार कर सके। तुलसीदास विरचित रामचरितमानस के वक्ता-श्रोता के रूप में शिव-पार्वती की योजना इसी दृढ़ सेतु का कार्य कर रही है। इसमें राम शिव से विद्रोह रखने वाले मनुष्य को अपना दास स्वीकार नही करते तो शिव राम को ही अपना आराध्य देव मानते हैं, अतः उनका विरोधी शिव का भक्त कहलाने का अधिकारी हो ही नहीं सकता। तुलसीदास ने राम के मुख से समन्वयवाद के इसी पहलू को व्यक्त करवाया है—

"सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुं मोहिं न पावा।
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुं बास ॥"[20]

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के निर्माण में जातीय एकता का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यह ठीक है कि प्रत्येक जाति के अपने कुछ विशिष्ट मूल्य, विशिष्ट भाषा, विशिष्ट धर्म, विशिष्ट संस्कृति, विशिष्ट साहित्य होता है, जिसके आधार पर उसकी अपनी एक पृथक् पहचान स्थापित होती है। प्रत्येक जाति का यह कर्त्तव्य भी है कि वह अपनी अस्मिता की रक्षा प्रत्येक स्थिति में करे किन्तु जब प्रश्न जाति से ऊपर उठकर राष्ट्र से जुड़ जाता है, तब प्रत्येक जाति का यह प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने प्रकाश के साथ-साथ राष्ट्रीय उज्ज्वलता को भी यथासंभव बनाए रखे। राष्ट्र की अस्मिता जाति की अस्मिता से अधिक महत्वपूर्ण होती है—यह कहना तो उचित नहीं होगा किन्तु निःसंकोचतः यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र की अस्मिता की सुरक्षा में ही जाति की अस्मिता संरक्षित रहती है। राष्ट्र का सांस्कृतिक गौरव जैसे ही पतनोन्मुख होने लगता है वैसे ही उसके भीतर निवास करने

वाली विभिन्न जातियों की सांस्कृतिक महत्ता भी धूमिल होने लगती है। अतः उचित यही है कि जातियों के मध्य समन्वय की भावना प्रधान हो तथा उनके सांस्कृतिक मूल्यों के संगम से एक राष्ट्रीय संस्कृति के रूप का निर्माण हो। इसी विशाल एवं सघन वृक्ष की शीतल छाया में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भावना पुष्पित एवं पल्लवित होती है। तुलसी-साहित्य में पांच जातियों के पात्रों का विशद् चित्रण हुआ है—देव, दानव, वानर, नर तथा तिर्यक्। इन सबकी अपनी-अपनी संस्कृतियां हैं किन्तु उनमें कहीं विरोध या वैमनस्य का अंश-मात्र भी देखने को नही मिलता। यह सत्य है कि संस्कृति की चर्चा मानव संदर्भ में ही की जाती है किन्तु राम-कथा के सुग्रीव, हनुमान, काक-भुशुंडि और गरुड़ आदि पात्र साधारण वानर या पक्षी नही हैं, उनमें विवेकशीलता भक्तिमत्ता एवं सेव्यभाव विद्यमान है। तुलसी ने इन सभी जातियों की संस्कृतियों में समन्वय करते हुए अंत में रामराज्य की स्थापना करके मानवता की स्थापना की है। रामराज्य का यही रूप वर्त्तमान समाज में विद्यमान सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की धारणा का मूलाधार है।

साधुमत एवं लोकमत दो भिन्न मत हैं। लोक-मर्यादा एवं लोक-शासन के लिए लोकमत की रक्षा करना अभीष्ट है तो साधुमत समाज में नैतिक मर्यादा को स्थायी बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। और चूंकि राष्ट्र का संबंध लोक-मर्यादा एवं समाज-मर्यादा दोनों से है, अतः राष्ट्रीयता की व्यापक धारणा में दोनों मतों के समन्वित स्वरूप का होना अवश्यम्भावी है। तुलसी की धार्मिक दृष्टि में इन दोनों का सम्मिलित रूप अपने पूर्ण वैभव के साथ देखा जा सकता है। तुलसी के राम लोक-मर्यादा को रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं इसीलिए वे अग्नि-परीक्षित सीता को निर्वासित कर देते हैं तथा सीता साधुमत के अनुकूल पुरुषोत्तम राम की आज्ञा को शिरोधार्य कर लेती हैं—

"चरचा चरनिसों चरची जानमनि रघुराई।
दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥
प्रिया निज अभिलाष रुचिकहि कहति सिय सकुचाइ।
तीय-तनयसमेत तापस पूजिहों बन जाइ॥" 21

यद्यपि वर्त्तमान युग में सीता-निर्वासन को लेकर राम के ऊपर अनेक प्रश्न-चिह्न लगाए गए हैं, किन्तु तद्युगीन समाज की संभवतः यही मांग थी, इसीलिए तुलसी ने लोक-मर्यादा को बनाए रखने के लिए इस प्रकार के चित्रों को अपने काव्य में स्थान दिया था किंतु यहां इस प्रश्न के उचित-अनुचित पर विवाद करना अपेक्षित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से हमारे अध्ययन-विवेचन के मूल बिन्दु—सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवहेलना हो जाती है। तुलसी ने प्रत्येक स्थिति में भारतीय संस्कृति के तत्वों का उच्च स्वरों में समर्थन किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य सदाचार, नैतिकता, सत्यता, भाईचारे, समन्वयवादिता, सहिष्णुता, सहृदयता आदि मानवीय मूल्यों का अक्षय कोश है। रामराज्य के स्वरूप में

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के बीज बपन करना तुलसी की महत्वपूर्ण देन है। उन बीजों का पल्लवित रूप आज की राजनैतिक व्यवस्था में देखा जा सकता है। यद्यपि मनुष्य जाति ने समय-समय पर तुलसी के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अखण्ड-ज्योति को अपने कलुषित आचरण के माध्यम से खण्डित करने का प्रयास किया है तथापि तुलसी के साहित्य का अध्ययन-अध्यापन इस विश्रृंखलता एवं पंकित परिवेश का परिहार करने में पूर्णतः समर्थ है। संभवतः यही कारण है कि विविध आंतरिक विघ्न बाधाओं से आच्छादित होने के पश्चात् भी भारत का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद विश्व में अपनी महत्ता आज भी स्थापित किए हुए है।

सन्दर्भ-संकेत

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध— नंद दुलारे, वाजपेयी, पृ० 2
2. समाजशास्त्र के सिद्धांत, भाग-2 – डा० रामनाथ शर्मा, पृ० 275
3 'यतोभ्युदय निश्रेयसिद्धिः सः धर्मः"— धर्म और उसकी आवश्यकता—ज्ञानचन्द आर्य, पृ 8
4. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, 38 (क)
5. वही
6. मुण्डकोपनिषद्—3-1-6
7. बृहर्द्धमपुराण—1-46 पूर्व खण्ड
8. रामचरित मानस—अयोध्याकाण्ड-28, 5-6
9. वही, बालकाण्ड—252, 2-3
10. दोहावली—507
11. वही—530
12. गीतावली
13. दोहावली—522
14. रामाज्ञा प्रश्न-4
15. रामचरितमानस—अयोध्याकाण्ड- 51-3
16. वही – 152-2

17. दोहावली—525
18. रामचरितमनस-अयोध्याकाण्ड—48, 1-4
19. वही, बालकाण्ड-23, 1-2
20. वही, लंकाकाण्ड-2, 7-8
21. गीतावली-उत्तरकाण्ड—27,1-2

□

समय की दौड़ में आदमी

सुदर्शन मजीठिया

इस दौड़ में आदमी ने दौड़ना सीखा, चाँद और तारों पर जाना सीखा, धन कमाना सीखा, बुद्धि तथा विज्ञान को विकसित करना सीखा, नहीं सीखा तो जीना। आज तक उसे जीना नहीं आया। जीवन जीने की दौड़ में आज का आदमी मालूम नही क्यों भाग लेने से हिचकिचाता है।

देवताओं के लिए स्वर्ग तथा राक्षसों के लिए नरक बना किन्तु जब आदमी की प्रोडक्शन हुई तो उसके लिए बनी यह दुनिया। इस दुनिया में दो तरह के जानवरों का निर्माण हुआ, एक पुच्छ सहित तथा दूसरा पुच्छ रहित। इस पूँछ रहित जानवर का दिमाग पेट से ऊपर था। और पुच्छ सहित पशु की बुद्धि उसके पेट के समानान्तर थी। यह पूँछ रहित पशु कालान्तर में आदमी के नाम से जाना गया। अपने जन्म के साथ ही इस आदमी ने ईश्वर को जन्म दिया और यह माना कि ईश्वर ने आदमी को बनाया है। अब किसने किसको बनाया है यह तो आदमी को उसकी मौत के बाद ही पता चलेगा। फिलहाल तो उसने अपनी पैदाइश और मौत के इंटरवल को जीवन की संज्ञा प्रदान की। न तो जन्म ही उसके हाथ में है और न ही मौत पर उसका कब्जा है। लेकिन कम-से-कम यह जीवन तो उसके सामने है, जिसे वह हर क्षण में जीना चाहता है। और आदमी की हर दौड़ उसी जीने की कोशिश का परिणाम है।

उसने अपने जन्म से ही दौड़ना प्रारंभ किया। यह दौड़ कई प्रकार की होती है यथा अक्ल की दौड़, धन की दौड़, सौंदर्य की दौड़, नारी के लिए नर की दौड़। घोड़े की दौड़

तो घुड़दौड़ कहलाई किन्तु किसी ने आदमी की इस दौड़ को नर-दौड़ की संज्ञा नही प्रदान की ।

आदमी अपनी इसी दौड़ के सिलसिले में चॉद पर गया, चाँद से भी आगे गया। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक रही। लैला-मजनूँ की दौड़ सिर्फ चॉद तक रही लेकिन आदमी की यह दौड़ अंतहीन रही। आदमी सदियों से दौड़ता रहा है, दौड़ रहा है और दौड़ते-दौड़ते यहॉ पर पहुँचा है। अपनी इस दौड़ को वह प्रगति के नाम से पुकारता है। उससे पूछो कि आदमी प्रगति के लिए है या प्रगति आदमी के लिए ? अक्लमंद के बाल सफेद होते हैं पर क्या हर सफेद बाल वाला अक्लमंद होता है ?

इस दौड़ में, वह साइंस की दौड़ में सबसे आगे रहा। साइंस याने विज्ञान याने विशिष्ट ज्ञान। उसने अपने आप पर प्रयोग किये और बालक को आदमी का पिता माना। छः फुटिये अपनी टॉगों पर चलने वाले इस जानवर को सुखी होने की दौड़ में दो सौ साल जीना है। बुढ़ापे से लड़कर उसे समाप्त कर देना है। जैनेटिक इंजीनियरी के प्रयोग किये जा रहे हैं। अमीबा से तरह-तरह की स्वतंत्रता ली जा रही है। नतीजा यह है कि उसे अन्तरिक्ष में एक ऐसे ग्रह की तलाश है, जहॉ पानी तथा ऑक्सीजन हो ताकि उसे नई जिंदगी मिल सके। जैनेटिक इंजिनियरिंग के प्रयोगों से वह मानवीय हारमोनों से स्वतंत्रता ले रहा है। भविष्य का मनुष्य बारह फुट ऊँचा होगा, दो सौ साल की उम्र लेकर आयेगा। शारीरिक रूप से वह अपने छः फुटिये पिता से अधिक ताकतवर होगा। विज्ञान का तो मूल सिद्धांत ही 'सरवाइवल ऑफ फिटेस्ट' है। बारह फुट का पुत्र अपने छः फुट के पिता से शारीरिक क्या, हर बात में अधिक ताकतवर होगा। इसका मतलब यह हुआ कि वह पुत्र अपने पिता को अपनी गोद में उठा लेगा। यदि बाप बेटे एक साथ खड़े हों तो गिल्ली डंडा प्रतीत होंगे। यदि दोनों को साथ-साथ फोटो खिंचवानी पड़े तो पुत्र के करीब बाप को स्टूल पर खड़ा होना पड़े, तब कहीं जाकर उनकी ऊँचाई एक-सी लगेगी। तो इसका मतलब यह हुआ कि साइंस की इस दौड़ में बेटा अपने बाप को 'कन्ट्रोल' करेगा।

फिर भी, बाप तो आखिर बाप ही होता है। पुत्रराज की सेवा बापजी करें, अभी ऐसी संस्कृति का तो प्रारंभ हुआ नहीं इसलिए इस आदमी को लगा कि साइंस की इस शक्ति को यदि आदमी नियंत्रित कर सकता है तो केवल नीति, धर्म या आचरण की सभ्यता है, जो आदमी को आदमी बना रहने में सहायता दे सकती है। इसलिए साइंस और धर्म का साथ-साथ होना आवश्यक है। भविष्य में साइंस पर मानवता की विजय होनी चाहिए और इस दौड़ में उसे पता लगा कि आदमी पैदा नहीं होते बल्कि बनाये जाते हैं।

आदमी दौड़ रहा है सुखी होने के लिए परन्तु क्या वह कभी सुखी हुआ ? धर्म के नाम पर उसने धार्मिक कसरतों का प्रदर्शन किया। चाहे मुस्लिम हो या ईसाई, यहूदी हो या हिन्दू सब अपने-अपने धर्म के पालन के लिए कसरतें करते हैं और व्यवहार में

एक-दूसरे से परस्पर घृणा करते हैं। धर्म तो एक है और वह है मानवता, जिसका संबंध आचरण से है न कि बौद्धिक दौड़ या धन की दौड़ से। आज आचरण की मौत है। लोगों का जब आचरण ही मरा है तो क्या बाकी रह गया ? केवल शरीर की मौत बाकी है। दुनिया के दो-तिहाई लोग ईसाई हैं जिसका मूलाधार इंजील है, जो कहती है कि 'परमात्मा उससे प्रेम करता है, जो परमात्मा से प्रेम करता है।' प्रेम का पाठ पढ़ाने वाली इस पुस्तक के अनुयायियों ने दो-दो विश्वयुद्धों में भाग लिया। तीसरा विश्वयुद्ध कैसे हो ? नहीं हो सकता क्योंकि लड़ने वाले वीरों के लिए दुनिया छोटी पड़ रही है। जिस तरह दो पहलवालों को एक बाथरूप में बन्द कर खिड़की में से उनसे कहा जाए कि अब कुश्ती लड़ो तो पहलवानों का प्रश्न होगा कि जगह कहाँ है ? उसी प्रकार, जगह के अभाव में लड़नेवाले शांति की बातें करने पर मजबूर हैं। आधुनिक दुनिया के माथे पर दो कलंक हैं, एक तो गरीबी और दूसरा विश्वयुद्ध। जितनी साधन-सामग्री हथियारों की दौड़ में खर्च हुई, उतनी यदि संसार के मनुष्यों पर खर्चा की जाती तो न रहती गरीबी और न बीमारियाँ। आदमी को जिस ओर दौड़ना है उस ओर तो वह दौड़ता नही। आसमान की ओर मुँह किये वह बार-बार गड्ढ़ों में गिरता है किन्तु सीखता कुछ नहीं।

इस दौड़ में आदमी ने दौड़ना सीखा, चांद और तारों पर जाना सीखा, धन कमाना सीखा, बुद्धि तथा विज्ञान को विकसित करना सीखा, नहीं सीखा तो जीना। आज तक उसे जीना नहीं आया। जीवन जीने की दौड़ में आज का आदमी मालूम नहीं क्यों भाग लेने से हिचकिचाता है। जीवन जीने की कला न तो धन से प्राप्त होगी न वैज्ञानिक विकास से। उसे जीते-जीते जीना सीखना होगा। जब तक वह जीवन जीने की दौड़ में कामयाब नहीं होता, उसकी सब दौड़ अर्थहीन है।

आदमी की इस दौड़ में समस्त दुनिया एक पिरामिड में रूपान्तरित होती जा रही है। पिरामिड है तो आखिर कलात्मक कब्रिस्तान। उनमें मनुष्य की ममी सुरक्षित है। साइंस की बड़ी-से-बड़ी प्रयोगशालाएँ आज साइंस के पिरामिड के समान हैं, जिनके नीचे विज्ञान की ममी दबी है। ज्ञान प्रदान करने वाले विश्वविद्यालय ऐसे पिरामिड हैं, जिनमें ज्ञान की ममी दबी है। मंदिर, मस्जिद, चर्च और अन्य धार्मिक स्थान भी धर्म के पिरामिड हैं, जिनमें ईश्वर की ममी सुरक्षित है। इस अक्ल के ठेकेदार मनुष्य से पूछो कि आखिर वह इस दौड़ से कहाँ पहुँचा ? उसकी आँखें खुली हैं, वह देखता है लेकिन आखिर उसने क्या देखा ? उसके कान सुनते हैं और वह तरह-तरह की आवाजें सुनता है लेकिन आखिर उसने क्या सुना ? जंगल कट रहे हैं। मैदान साफ हो रहे हैं। गर्मी बढ़ रही है। एक ओर जंगली जानवर घटते जा रहे हैं तो दूसरी ओर इस आदमी की जनसंख्या बढ़ती जा रही है। आखिर पृथ्वी के साधन तो सीमित हैं। प्रगति की इस तथाकथित दौड़ में वह वातावरण से एक दिन ओषजन को ही समाप्त कर देगा। यदि इस दौड़ का यही हाल रहा

तो वह हवा और पानी के लिए भी एक दिन तरस जाएगा ।

कहा न कि इस दौड़ में उसने सब कुछ सीखा, न सीखा तो केवल जीना । जीवन जीने की कला में वह आज भी शून्य है । चिन्ता उसके शून्य होने की नहीं है, इस बात की है कि उसका ध्यान इस ओर है ही नहीं । अपनी मौत के बाद यदि जीवन का ध्यान आया उसे तो क्या आया ? मरीज की मौत के बाद यदि डाक्टर आया तो क्या आया ?

आदमी की इस दौड़ में आदमियत की कमी है । जरूरत है आदमियत की दौड़ की न कि आदमी की दौड़ की । उसे अपने आचरण को जीवित कर यह देखना होगा कि बुद्धि व धन से जीवन जीने के लिए आचरण के महत्व की क्या उपयोगिता है । कहा न कि आदमी को जीवन जीने की कला जीवन जीते हुए सीखनी होगी । यह कला, ज्ञान, विज्ञान या धन की सहायता से सीखनी संभव नहीं है । आज के आदमी का दर्शन है—"तू नहीं मैं " और आचरण की सभ्यता का दर्शन है "मैं नही तू" । यह अंतर, मात्र शब्दों का अंतर नही है या छोटा-सा अंतर नहीं है । यह अंतर सदियों से चला आ रहा है । समय की दौड़ में वक्त से आगे निकल जाने की कोशिश में मनुष्य बार-बार पिछड़ जाता है । और उसका सबसे बड़ा पिछड़ापन तो यह है कि सभ्य कहलाने वाला मनुष्य समय के साथ जीने की कला में भी पिछड़ता जा रहा है ।

इससे पहले कि समय आगे निकल जाये और धरती वीरान हो जाए, बेहतर होगा कि मनुष्य अपने आपको पहचाने तथा जीवन जीना सीखे, ऐसा जीवन जो विश्वयुद्ध और आर्थिक दरिद्रता से शून्य हो । वह एक ऐसी दुनिया का निर्माण करे, जहाँ मनुष्यता के साथ मनुष्य विकसित हो । इक्कीसवीं सदी तो आज एक मानसिकता का पर्याय हो गयी है । इस इक्कीसवी सदी को उसे आसमान के नीचे और धरती के ऊपर जीवन को सहज और जीने योग्य बनाना होगा ।

आज के आदमी को समय की दौड़ के साथ यह चुनौती स्वीकार करनी है कि जीवन जीते-जीते जीवन जीना कैसे सीखे ? □

मैं शोषितों की लेखनी हूँ— महाश्वेता देवी

डॉ. रणजीत साहा

इस अंक से हम एक नया स्तम्भ आरंभ कर रहे हैं। इस 'स्तम्भ' के अंतर्गत प्रतिष्ठित रचनाकार से साक्षात्कार तथा उसकी रचना प्रस्तुत की जाएगी। इस क्रम में प्रस्तुत है भारतीय साहित्य की प्रख्यात साहित्यकार महाश्वेता देवी से डॉ. रणजीत साहा की बातचीत और उन्हीं के द्वारा अनूदित महाश्वेता देवी की कहानी 'हुल....हुल.."।

बाङ्ला की शीर्षस्थ एवं यशस्वी कथा लेखिका श्रीमती महाश्वेता देवी का जन्म 14 जनवरी 1926 को हुआ। उन्हें अपने लेखक पिता मनीष घटक (उपनाम 'युवनाश्व') से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्कार प्राप्त हुए। आरंभिक पढ़ाई घर पर और बी.ए. तक की पढ़ाई शान्ति निकेतन में हुई, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संरक्षण में। कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम.ए. (अंग्रेजी) करने के बाद कालेज की अध्यापिका लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी की सक्रिय कार्यकर्ता होने के कारण जीविका के लिए की गई नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। वर्ष 1947 में सुप्रसिद्ध रंगकर्मी श्री विजन भट्टाचार्य से विवाह। पत्रकारिता और पत्रों में स्तंभकार की हैसियत से अपनी पहचान बनाते हुए आरंभिक कृतियों (झांसी की रानी, नटी, अमृत संचय, आँधार माणिक, कवि वैद्यवाटी और नृसिंह दुःअवतार) के बाद 'हजार चौरासी की माँ', 'अग्निगर्भ', 'अरण्येर अधिकार' 'चोट्टी मुंडा ओ तॉर तीर', 'बरसते मेघ', 'श्री श्री गणेश महिमा', 'मास्टर साब' आदि 50 से

अधिक रचनाएँ पाठकों में लोकप्रिय हैं। भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादमी पुरस्कार, मैग्सेसे सम्मान प्राप्त महाश्वेता देवी विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं द्वारा कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से विभूषित हैं। वे शोषित, वंचित एवं दलित समाज पर होने वाले अन्यायों तथा स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों से लड़ने वाली एक जुझारू लेखिका हैं और वे केवल कलम की ही नहीं, अदम्य संकल्प की धनी हैं और सामाजिक शोषण के विरुद्ध अपनी लड़ाई में वे आज 72 वर्ष की वय में भी युवोचित उत्साह से अपने लेखन एवं सामाजिक सरोकारों के क्षेत्र में डटी हुई हैं। उनकी कई रचनाओं का हिन्दी समेत कई भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनकी कई कृतियों पर आधारित फिल्मों और नाट्य-रूपान्तरों की (उदाहरण के लिए हिन्दी फिल्में, 'संघर्ष', 'रूदाली' और 'हजार चौरासी की माँ') काफी प्रशंसा हुई है।

डॉ. साहा : महाश्वेता जी, समकालीन बाङ्ला साहित्य की जो स्थिति है, समसामयिक पाठक समाज है, समाज के सांस्कृतिक प्रश्न हैं-उनसे हमारा देश और समाज चौकस है लेकिन जहाँ तक एक पाठक के नाते इनसे जुड़ने का प्रश्न है—शोषितों की समस्याएँ हैं, नारी की मुक्ति या अस्मिता का सवाल है, एक समर्पित लेखिका के रूप में नारी के गौरव की बात है; आप अपने आपको कहाँ स्थापित होता देख पाती हैं ?

महाश्वेता जी : मैं कभी अपने गौरव को बढ़ाकर नहीं सोचती। मैं तो काम को सबसे बड़ा मानती हूँ लेकिन मेरे लिए तो सिर्फ आज का महत्व है इसलिए जितना संभव हो, मैं अपने लक्ष्य को कार्य के द्वारा प्रमाणित करती हूँ। काम सबसे बड़ा है और मेरे सामने, सचमुच बहुत काम पड़ा है।

डॉ. साहा : दीदी, आपकी लेखनी में ग्राम समाज, दलित, शोषित, आदिवासी, "मार्जिनलाइज्ड" और उपेक्षित या नारी की समस्याओं को विस्तार से लिखा गया है। आपकी कुछ रचनाएँ पिछले वर्षों में काफी चर्चित हुई हैं और मीडिया में भी उन्होंने अपना स्थान बनाया है लेकिन जो तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग या जो अभिजात पाठक समाज है, क्या वहाँ कोई उल्लेखनीय हलचल हुई है ? क्या वे अपने आपको वांछित या संशोधित सुधार के लिए आग्रही दीख पड़े हैं ?

महाश्वेता जी : मैंने तो कभी उन्हें प्रेरित या संशोधित करने के लिए नहीं लिखा। आपने जिस वर्ग का अपने सवाल में जिक्र किया है दरअसल वही

मेरा लेखक है, मैं उनकी लेखनी हूँ, उनकी कलम हूँ। मैं उस जाति के लिए—"वॉइसलेस सेक्शन ऑफ द सोसायटी" के लिए लिखती हूँ। उसके पास कंठ-स्वर नहीं था लेकिन वक्तव्य बहुत थे। तभी, मैं उनकी लेखनी बन गई। इस बारे में दूसरे लोगों ने क्या लिखा, मेरे बारे में क्या कहा गया ? किसके मन में क्या सवाल थे ?मैं नहीं जानती, लेकिन उनमें अवश्य ही चेतना जगी है। कुछ-न-कुछ जागरण अवश्य हुआ है। देखिये, मैं पिछले 15 वर्षों से इस कार्य में जुटी हुई हूँ। मैं तो उन जगहों पर दौड़ी-दौड़ी जाती थी, जहाँ बंधुवा मजदूर —"बॉण्डेड लेबर"—थे और पिछले कुछ वर्षों से मैं, विभिन्न स्थानों पर उनकी समस्याओं को समझने में और उन्हें सुलझाने में, इधर-से-उधर भागती रही हूँ। "पलामू" शीर्षक कहानी में आप इसे देख सकते हैं। मैं एक और विशेष कार्य से भी जुड़ी हुई हूँ। भारतीय संविधान में जिन जातियों को अपराध प्रवण —"क्रिमिनल ट्राइब"—कहा गया है, मैं उनके उत्थान के लिए कार्य कर रही हूँ। सारे भारत में ये जातियाँ फैली हैं। दिल्ली में भी मिलेंगी। भारत सरकार ने इन सब जनजातियों को "डिनोटीफ़ाइड" कर दिया था इसलिए इन पर लोगों के अत्याचार भी बढ़ गये थे। अभी तक वह सब चल रहा है। हमारी तरफ, बंगाल के पुरूलिया ज़िले में खड़िया-शबर ट्राइब है। पिछले 15 वर्षों से मैं उसी ट्राइब की सेवा में नियोजित हूँ। आज जब मैं पाती हूँ कि उनमें समय के साथ चेतना जगी है, तो बड़ी खुशी होती है। साल में एक बार उनके यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है। आसपास के इलाकों से—कलकत्ते से मध्यवित्त लोग भी इसमें भाग लेते हैं, वहाँ आते हैं। वे उनके लिए पुराने कपड़े लाते हैं, चंदा देते हैं। हमारी प्रार्थना पर आगे बढ़कर हिस्सा लेते हैं। बड़ा व्यवस्थित मेला होता है। कलकत्ता पुलिस कर्मचारी एसोसिएशन और दूसरे कई संघ या संस्थान इसमें सहायता देते हैं। लोग दाल, चावल देते हैं और भी जरूरत की चीजें जुटा देते हैं। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हम हर रोज़ कोई 20 हज़ार आदिवासियों को खाना खिलाते हैं। तीन दिनों तक यह मेला चलता रहा है। यह एक बहुत बड़ा मेला है। मैं बड़े दावे के साथ यह कह सकती हूँ कि इतना बड़ा सांस्कृतिक मेला भारत में कहीं और नहीं होता। किसी "डिनोटीफ़ाइड ट्राइब"—"क्रिमिनल ट्राइब" के मेले को इतने सुन्दर हस्तशिल्प के साथ नहीं देखा जा

सकता। सारा कार्यक्रम वही चलाते हैं। इसमें उनके घर के लोग, मर्द, औरतें और बच्चे सभी शामिल होते हैं। वे मंच पर बैठते हैं। हम ज़मीन पर बैठते हैं। कितना सुन्दर आयोजन होता है यह। इस कार्य में मन को जो बड़ी तृप्ति मिलती है—वह मैं व्यक्त नहीं कर सकती। इससे काम करने वालों में चेतना संचारित होती है और थोड़ी-बहुत प्रेरणा भी मिलती है। मुझे खुशी है कि हमने कभी एक-एक पत्ता जोड़कर एक कड़ी बनाई थी— वह एक बहुत बड़े अभियान में बदल गई है।

डॉ. साहा : लेकिन आपको कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ा होगा। इस तरह की जनजातियों के लोगों के लिए और खुद आपके लिए यह पहला ही अनुभव होगा। सबसे पहले आपने उनका विश्वास अर्जित किया होगा ?

महाश्वेता जी : ऐसा तो हर सदी में होता रहा है। गैलीलियो और कोपरनिकस के ज़माने में भी यही हुआ था। गैलीलियो ने कहा था कि सूर्य स्थिर है लेकिन धरती घूमती है। उस समय भी इस बात को मानने वाले समर्थकों की संख्या सिर्फ़ 5% थी। 95% लोगों ने उसकी घोषणा या स्थापना को नकार दिया था। हर ज़माने में ऐसा ही होता है। कुछ अच्छे और बड़े काम भी हो जाते हैं लेकिन आरम्भ में उन्हें मानने वाले बहुत कम होते हैं। गांधी जी के साथ भी ऐसा ही हुआ था। कितने लोगों ने उनका साथ दिया ? लेकिन बाद में उन्हें मान्यता मिली और लोगों ने गांधी जी का हाथ मजबूत किया और तभी भारत को आजादी मिल सकी।

डॉ. साहा : चूँकि आप शान्ति निकेतन में पढ़ी-लिखी और रवीन्द्रनाथ की छाया में वहाँ अध्ययन किया; क्या आपके मेले की सफलता में या परिकल्पना में रवीन्द्रनाथ द्वारा आयोजित शान्ति निकेतन के पौष मेले पर उसका कोई प्रभाव पड़ा है, जो आज भी काफी बड़े पैमाने पर आयोजित होता है ?

महाश्वेता जी : नहीं। उसका कोई प्रभाव नही पड़ा। मेरा जीवन जब एक लेखिका के रूप में शुरू हुआ था। कहना चाहिए कि "मेन स्ट्रीम" से जुड़कर शुरू हुआ था, एक बड़ी नदी की तरह। लेकिन, पता नहीं कब वह नदी पहाड़ों से गुजरती हुई रेत, धूल, कंकड़ और रेगिस्तान से निकलकर एक छोटी नदी की तरह बहती चली गई जहाँ भूखे, नंगे और ग़रीब

लोग हैं। मेरी लेखनी उनकी ही कहानी कहने लगी। उसमें आदिवासी जीवन की वंचना और कठिनाईयाँ भी हैं, जिनसे मैंने शक्ति अर्जित की है।

डॉ. साहा : आपको, किसी खास व्यक्तित्व ने प्रभावित किया हो, लेखन को या जीवन को, चुनौती समझकर उसका सामना करने के बारे में ?

महाश्वेता जी : नहीं-नहीं। किसी ने भी नहीं। मुझे यह प्रेरणा मेरे अंतर ने दी है।

डॉ. साहा : दरअसल आपने कोई 40 साल पहले झाँसी की रानी पर एक कृति लिखी थी। उसके मूल में क्या प्रेरणा थी ?

महाश्वेता जी : वह मेरी पहली कृति थी। एक ऐतिहासिक जीवनी थी। इसे लिखने के पहले मैंने यह तय कर लिया था कि मैं झांसी जाकर देखूँगी। वहाँ के लोग और वहाँ की जनजातियाँ कैसे झाँसी की रानी को याद करती हैं। जब वहाँ गई तो मुझे सारी चीज़ों को इकट्ठा कर बड़ा संतोष मिला। मुझे आज भी उन रातों की याद आती है, जब हम मैदान में बैठा करते थे। भयंकर काटती ठंड में, आग जलती रहती थी और लोग गाते रहते थे :

पत्थर उठा के फौज बनाई काठ से तलवार
पहाड़ उठा के घोड़ा बनाया, चली रानी ग्वालियर।

तब मैंने समझा कि जहाँ के अनपढ़ निरक्षर लोग अपने गीतों और गानों में झाँसी की रानी को इस तरह याद करते हैं, अपनी श्रद्धा जताते हैं, वे सचमुच में बड़ी होंगी और तब मुझे उन पर किताब लिखने की प्रेरणा मिली। मैंने वहाँ पर उपलब्ध सारी सामग्री को समेटा और जितना संभव था, पढ़-लिखकर पूरा किया।

डॉ. साहा : दीदी, आपकी लेखनी एक तरह से शोषण, गरीबी, अभाव के खिलाफ एक पर्याय बन गई है। इसी तरह साहित्य में, समाज में, जीवन में—जब भी शोषण की बात होती है तो एक तथाकथित या पारदर्शी किस्म का शोषक हमारे सामने आता है। यानी हमारे सामने दो ध्रुवान्त होते हैः शोषित और शोषक। तो सवाल है कि शोषितों की जो विवशता है, उनकी असहायता है, यह क्या किसी तरह काबू में आ सकी है ? या जो शोषकों के चेहरे हैं, हथियार हैं, तेग हैं, तेवर हैं, तैयारियाँ हैं- क्या वे सभी समय के साथ बदलती नहीं जा रही हैं ?

महाश्वेता जी : हाँ, शोषण की जो प्रक्रिया है, उसमें बड़ी कुशलता या चतुराई आ गई है। देखिये, मैंने जो शोषित वर्ग के बारे में लिखा है—वह श्रेणी

शोषित है। उसमें न तो अलग से नारी वर्ग है और न अलग से पुरुष वर्ग। भारत की जितनी आबादी है और जो लोग शोषित हैं और जो ग़रीबी या दरिद्रता रेखा के नीचे हैं—वे पिछड़े वर्ग के हैं; निचले तबके के लोग है। इसमें मध्यवर्ग, मिडिल क्लास और अभिजात वर्ग या धनी वर्ग का हिसाब नहीं है। शोषित वर्ग जैसे वर्ग ही पूरे भारत में है। ऐसी स्थिति में, न तो उनके पास अक्षर नही पहुँचा न पानी पहुँचा...न ही बिजली पहुँची। रास्ता नही है। मुझे ये लोग लिखने की प्रेरणा देते हैं। इन लोगों का शोषण होता रहा है, शोषण का तरीका समय-समय पर अवश्य ही बदलता रहा है।

डॉ. साहा : आपने अपने लेखन को गंभीरता से लेना कब शुरू किया ? आपकी कृतियों की संख्या तो अब सौ से भी अधिक हो गई है । सुना है, इधर आपने आत्मकथा भी लिखनी शुरू कर दी है ?

महाश्वेता जी : वैसे तो मेरी पहली पुस्तक 1956 में प्रकाशित हुई थी लेकिन मैंने अपने लेखन को गंभीरता से लेना तब शुरू किया जब मैंने पत्र-पत्रिकाओं के लिए पेशेवर ढंग से कॉलम लिखना शुरू किया। पहले यह मेरी ज़रूरत थी, जो बाद में मेरी आदत बन गयी। तब मैं संबंधित समस्याओं की पड़ताल के लिए निकल जाया करती थी। यहाँ तक कि दंगाग्रस्त क्षेत्रों में भी बेधड़क चली जाया करती थी। उस समय मुझे खाने-पीने, नहाने और कपड़े बदलने तक का ध्यान नहीं रहा करता था। जब हाथ अकड़ जाते और उँगलियाँ सुन्न पड़ जातीं तब कहीं जाकर काम को कुछ देर के लिए विराम देना पड़ता था।

डॉ. साहा : वह आत्मकथा वाली बात, जो आप इन दिनों लिख रही हैं ?

महाश्वेता जी : मैंने शुरू तो किया है और उसके कुछ अंश 'प्रभा' में छपे भी हैं। लेकिन उसे मैं दोबारा व्यवस्थित करना चाहूँगी। क्योंकि उसमें कई घटनाओं, व्यक्तियों, संस्थाओं और कृतियों का जिक्र आयेगा—क्रॉनोलाजिकली और कालक्रम के अनुसार भी उसे देखना पड़ेगा। इसमें दो-तीन-साल तो लग ही जायेंगे।

डॉ. साहा : यह एक पुराने ढर्रे का सवाल है लेकिन ज़रूरी इसलिए है कि आपकी कोई कृति सबसे पहले किस आग्रह से लिखी जाती है ? आप इसे लिखते हुए, सबसे पहले किसे सम्बोधित करना चाहती हैं ?

महाश्वेता जी : दरअसल मुझे मनुष्य ने, आम आदमी के प्रश्नों ने लेखन और फिर आन्दोलन के लिए प्रेरित किया। अनपढ़ आदिवासियों और

अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा ही मेरी शक्ति बनी। मैं उनकी कलम बन गई—निहत्थे, निरूपाय और 'वॉइसलेस' लोगों की। इस 'वॉइसलेस सेक्शन ऑफ दि सोसायटी" ने मुझे, मेरे संकल्प को हथियार थमा दिया। जहाँ बंधुआ मज़दूर थे, आदिवासी, थे, दलित थे, वहाँ हमने लोगों के सहयोग से और वहाँ प्राप्त साधनों के द्वारा ही पिछले कई सालों से एक ड्राइव चला रखी है—बंगाल के मिदनापुर, पुरुलिया और आसपास के सूखाग्रस्त इलाकों में। मैं उनकी तकलीफों के बारे में विस्तार से यहाँ क्या बताऊँ—देश के कई हिस्सों में विकास के बावजूद, लोगों की कठिनाइयाँ कम नहीं हुईं। अब लोग भी यह समझने लगे हैं कि उन्हें किसी के भरोसे बैठे नहीं रहना चाहिए। मैंने तो बस इतना ही किया है कि आगे बढ़ो, काम करो—उसी से आगे का रास्ता निकलेगा।

डॉ. साहा : क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि नक्सल आन्दोलन जिस सामाजिक सोद्देश्यता को लेकर शुरू किया गया था, वह ग्राम समाज के लोगों या शहरी नागरिकों का सहयोग, समर्थन या सहानुभूति लेने में असमर्थ रहा, यह अपने मूल संकल्प से हटकर हिंसक और एकांगी हो गया।

महाश्वेता जी : दरअसल नक्सल आन्दोलन की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है। मूलतः यह सामाजिक असमानता से जुड़ी समस्या थी। किसानों और किसानों से जुड़ी जमीन की समस्या। लगान, कर्ज़, सूद, बेदख़ली, बंधुआ मज़दूरी, बाल मज़दूरी और फिर ज़मीन पर मालिकाना हक जताने का जमींदारी षड्यंत्र। भूमि कानून को जबरदस्ती लागू करने के विरोध में बंगाल के तेभागा आन्दोलन की बहुत बड़ी और सार्थक भूमिका रही है लेकिन यह ठीक से लागू नहीं हो पाया और सारी तैयारी असफल हो गई। कृषि ज़मीन से बेदखल, फसल के अधिकांश भाग पर जमीदार, जोतदार और फिर साहूकारों के कब्जे तथा ऋणभार और बाढ़ तथा सूखे की मार के साथ वही कोई काम न मिल पाने की मजबूरी ने निहत्थे किसानों को विद्रोही बनने पर विवश कर दिया। हमारी व्यवस्था भी उसी का साथ देती है... जिसके पास सत्ता और शक्ति है। व्यवस्था ने समस्या के मूल को न तो समझने की कोशिश की और न इससे निपटने में समझदारी का परिचय दिया। भूमि पर अधिकार और नियंत्रण से संबंधित हज़ारों मामले आज भी अदालतों में पड़े हैं। यही चिंगारी धीर-धीरे जनाक्रोश में तब्दील हो गई और

इसने धीरे-धीरे लेकिन काफ़ी दूर तक अपना प्रभाव-विस्तार कर लिया। इसके जो शिकार थे, उनके मन में भी पीढ़ियों का असंतोष जमा था। इसकी शुरूआत बंगाल से हुई और नक्सल आन्दोलन वहाँ के किसानों को कृषि ज़मीन से बेदखल और आदिवासियों को उनकी ज़मीन और जंगलात से बेदख़ल करने का नतीजा था। यही जनाक्रोश शहरों में फैला क्योंकि शहरी युवकों के पास काम नही था, रोजगार नहीं था। आज भी नही है। मैंने अपने उपन्यास "हजार चुरासीर मां" में यही तो दिखाया है।

डॉ. साहा : मैं नक्सल आन्दोलन के दूसरे पक्ष पर आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहूँगा। यह ठीक है कि रचनात्मक स्तर पर, मैं साहित्य के प्रश्न और प्रसंग से जोड़कर इसे देख रहा हूँ कि इससे हमारे तत्कालीन युवा आक्रोश को एक नया स्वर मिला, नया प्रस्थान मिला लेकिन मुझे यह भी लगता है कि नक्सल आन्दोलन की राजनैतिक पृष्ठभूमि चाहे जो भी रही हो, साहित्य सृजन के स्तर पर इसे एक युक्ति या अभिप्राय के तौर पर बार-बार दोहराया गया। बाङ्ला के कुछ लेखकों, सुभाष मुखोपाध्याय, समरेश बसु, सुनील गंगोपाध्याय, शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय, समरेश मजूमदार के अलावा ऐसे कई लेखकों ने, जिनका इस आन्दोलन से कोई सरोकार नही था, इस विषय पर अपनी लेखनी चलाते रहे। इस "नक्सलमेनिया" से बाङ्ला कथा-साहित्य का बड़ा नुकसान हुआ, ऐसा बाङ्ला के आलोचक मानते हैं।

महाश्वेता जी : इस महत्त्वपूर्ण आन्दोलन का जो लोग गलत इस्तेमाल कर रहे हैं या इसे 'रोमांटिसाइज़' कर रहे हैं, वे सचमुच हम सबका नुकसान कर रहे हैं। आलोचकों ने अभी भी इस आन्दोलन को गंभीरता से नही लिया, यह दुख और चिन्ता का विषय है। अन्यायपूर्ण और विद्वेष से भरी विषमता हमारे सामाजिक ढाँचे को खोखला करती जा रही है। नक्सल आन्दोलन की तीव्रता भले ही कम हो गई हो लेकिन इसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। बिहार, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और केरल जैसे राज्यों में इसकी गतिविधियाँ जारी हैं। मैं चाहती हूँ हमारे नेता और सामाजिक कार्यकर्ता और विभिन्न संगठनों से जुड़े प्रवक्ता इसे गंभीरता से लें क्योंकि इसमें अकेला साहित्यकार कुछ नहीं कर सकता।

डॉ. साहा : अपनी इस लम्बी रचना-यात्रा और संघर्षपूर्ण तैयारी में आपने अजस्र पाठकों का सम्मान और विश्वास अर्जित किया है। क्या इसी अनुपात में आपको सामाजिक संगठनों का या लेखक-समुदाय का सहयोग प्राप्त हुआ है ?

महाश्वेता जी : साहित्यकारों की भूमिका के बारे में उतना ही जानती हूँ, जितना कि आप। सामाजिक संगठनों ने इस दिशा में पहले भी काफी काम किया था। मुझे खुशी है कि रचनात्मक और संरचनात्मक, दोनों ही दृष्टि से, इसमें सफलता मिली है। बिहार में तो काफी काम हुआ है। लोगों में नई चेतना है। इसी बिहार में, साठ के दशक में जगदीश यादव उर्फ "मास्टर साब" और रामेश्वर अहीर जैसे क्रान्तिकारियों ने अपने ढंग से शोषण के खिलाफ हथियार उठाया था। भोजपुर, आरा और डुमराँव जैसे ज़िलों में दलितों, हरिजनों और शोषितों की सेना खड़ी कर उसने जमींदारों और जोतदारों का डटकर मुकाबला किया था। मैंने उन सुदूर अंचलों में जाकर संगठन के तरीकों, जन चेतना और सैन्य-संचालन तथा आन्दोलन से संबंधित पर्चे, पुस्तिकाएं, बैनर तथा अन्य जानकारियाँ इकट्ठा की थीं। इन अंचलों में एक दुर्दम्य और अपराजेय कथानायक और सेनानी के रूप में सम्मानित "मास्टर साब" कई गीतों में आज भी विद्यमान हैं। उनके दीन-शीर्ण लेकिन तेजस्वी व्यक्तित्व के बारे में सुनकर मैं अचंभित हो गयी थी। मास्टर साब पर तो कई गीत लिखे गये और उनकी माँगों पर मशाल जुलूस निकाला गया और "हरिजनिस्तान" तक की माँग की गई। मैंने भी उन पर एक छोटा-सा उपन्यास लिखा जो "प्रभा" पत्रिका में प्रकाशित हुआ। नक्सल आन्दोलन सफल रहा या विफल इसके समुचित आकलन के लिए इस तरह के सामाजिक और ऐतिहासिक विवरणों और दस्तावेजों का बड़ा महत्त्व है।

डॉ. साहा : साहित्य और समाज के सरोकारों से एक साथ और एक जैसा संपर्क या जुड़ाव रखने पर कहीं-न-कहीं समझौता करना ही पड़ता है और लेखन-कर्म बाधित हो सकता है लेकिन आप इन दोनों के बीच रचनात्मक तालमेल कैसे बनाये रखती हैं ? आपके साहित्य-सृजन या साहित्यिक गुणवत्ता पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता, विशेषकर कथा या कथावस्तु की प्रस्तुति में ?

महाश्वेता जी : मैं सामग्री की प्रस्तुति से अधिक अपने वक्तव्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करती हूँ। मुझे जो कहना है, वह कैसे भी कहना है। इसमें कैसा समर्पण या समझौता ? कुछ कहानियाँ या रचनाएँ तो मैं एक ही बैठक में लिख लेती हूँ और मुझे सचमुच यह होश नही रहता कि कितने बजे हैं। "स्तनदायिनी" कहानी तो मैं लगातार अठारह-उन्नीस घंटे तक लिखती रही और जब यह पूरी हो गई तो लगा मेरे जी से बहुत बड़ा बोझ उतर गया है। अब, रही साहित्यिक गुणवत्ता या समालोचकों द्वारा की गई प्रशंसा या निन्दा की बात, तो मैं यह बता दूँ कि मैं तात्त्विक चिन्तन से बहुत घबराती हूँ। बहुत गहरी और गंभीर बातें मैं समझ नही पाती। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और माओ की रचनाएँ मैंने नही पढ़ी। हाँ, अगर किसी को पढ़ा है तो सिर्फ मनुष्य को और वह भी बहुत कम। जहाँ तक सामाजिक प्रतिश्रुति की बात है, इसे व्यापक संदर्भ में समझने की जरूरत है और इसी में स्थानीय समस्याएँ भी निहित हैं। इसी "स्तनदायिनी" कहानी मे मैने बताया है कि इसकी पात्रा जशोदा मेरे लिए पूरे देश का प्रतिरूप है। हम सब इस देश में सारी चीज़ें प्राप्त करते हैं, लेकिन बदले में इसको कुछ देते हैं ? नहीं देते न ... एक समय था, जब लोग अपने सिवा दूसरों के बारे में भी सोचते थे, उनकी भलाई और उन्नति के लिए काम करते थे। लेकिन जैसे-जैसे आवागमन, यातायात और संचार साधनों के विकास के कारण दुनिया सिकुड़ती चली गई और अब एक वैश्विक ग्राम —"ग्लोबल विलेज' बनने को है तो हम भी छोटे और बौने हो गये। अब लोगों के सामाजिक सरोकार केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि तक ही सीमित हो गये हैं। इसलिए मानवीय करुणा, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम की बातें हृदय की नही; सेमिनारों, संगोष्ठियों और पर्चों का विषय बनकर रह गई हैं। □

हुल ... हुल

महाश्वेता देवी

1855–56 का संताल विद्रोह । बिहार के राजमहल से लेकर बंगाल के उत्तर-पश्चिम इलाके के संग्रामपुर तक संतालों और अंग्रेजों के बीच बड़ा भयंकर युद्ध हुआ था । इस संताल विद्रोह के सबसे बड़े नायक सिदु और कान्हु बुरी तरह जख्मी हो गये थे । अब उस समय का सारा इतिहास कहीं लिखा हुआ तो है नहीं । इसलिए लोगों को साना किसकू के बारे में जानकारी कहाँ से होगी भला ।

इस साना किसकू का घर था, छोटे-से महुला गाँव में । जो एक पहाड़ की तलहटी में बसा था । वैसे इस गॉव में संतालों के अलावा दूसरे लोग भी बसे हुए थे लेकिन संख्या में सबसे अधिक थे यादव, जिन्हें अहीर या ग्वाला भी कहते हैं । उनके पास बहुत सारी भैसें थीं, गायें थीं । संताल बालक किसकू इन्हें चराया करता और आसपास फैले जंगल में काफ़ी दूर-दूर तक निकल जाता ।

किसकू की तरह और भी कई बच्चे चरवाहे का ही काम किया करते । गांव के ग्वाले मटके में घी, दही और मक्खन भरकर दूर-दूर निकल जाते, इन्हें बेचने के लिए ।

संताली भाषा में संताल-विद्रोह को 'हुल' कहते हैं । जब इनके नेता सिदु और कान्हु द्वारा चलाया जाने वाला यह आंदोलन ज़ोर पकड़ने लगा तो उसमें यादवों ने भी अपना भरपूर सहयोग दिया । संताल विद्रोहियों के साथ यादव लोग भी साना किसकू के मालिक प्रताप यादव के यहॉ जा पहुंचे । वह इस इलाके का बड़ा धनीमानी और उदार व्यक्ति था । उसने भागलपुर के अंग्रेज़ साहबों को देखा था । कहलगाँव के उस एकटेंगा साधु को देखा था, जो एक पैर पर खड़े होकर तपस्या करता रहा था और राजमहल जाकर वहॉ के मशहूर मोतीचूर के लड्डू खा आया था ।

"क्या बात है, तुम सब आज हमारे यहाँ ?" प्रताप ने पूछा ।

"हुल जमता जा रहा है ।..." यादवों ने बताया ।

"फिर ?"

"क्या हम लोग यह सब टुकुर-टुकुर देखते रहेंगे... हमें भी तो इनका साथ देना चाहिए ।"

बात ठीक थी । लेकिन प्रताप ने तुरत कुछ कहा नहीं । वह कुछ सोचने लगा । उसने अपनी आँखे बंद करलीं । फिर मिटमिटाती ऑखों से ही कहा, "हुल – ठीक है । लड़ाई – ठीक है । तुम सबके पास तीर-कमान, लाठी-बल्लम हैं न !"

"हां हैं – ।"

"अर्जुन का घोड़ा ?"

"हॉ, हैं ।"

अचानक प्रताप ने ऑखें तरेरते हुए कहा, "यहाँ पचास घर यादवों के हैं । तीर-कमान के पचास जोड़े हैं तो फिर तुम लोग गॉव में क्या कर रहे हो ? हुल समाप्त नहीं हो जायगा ? चलो, तुम लोग अभी तुरत साना के साथ चले जाओ ।"

"साना के साथ ?"

प्रताप स्वयं यादव था । फिर भी ऐसा कह रहा था । ग्वाला कही का । तभी तो कहते हैं कि ग्वालों को अकल नहीं होती । साना उन्हें ठीक जगह पर ले जायगा । हुल करने के लिए किसी संताल सरदार के पास तो जाना ही होगा ।

"ठीक है । किसके पास जाना है ?"

प्रताप ने अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों को उमेठते हुए कहा - "साना जिसके पास ले जाय – ।"

साना तो छोटा-सा बच्चा है । फिर । लेकिन ऐसा कहने से ही क्या होगा ? जिन्होंने 'हुल' शुरु किया है, हमें उनकी बातों को ही मानकर चलना है । इन इलाकों के डोम-चमार, बागदी सभी इसमें शामिल हो गये हैं और ये सभी संताल नेताओं की बात मानकर ही चल रहे हैं ।

"मैं उन्हें यह खबर दे आऊँ..." साना ने कहा और वह बीहड़ जंगल में घुस गया । सारे यादव हैरान । उन्हें ऐसा जान पड़ा कि हुल करने वाले लोगों के साथ साना की अच्छी पहचान है और प्रताप यादव को यह सब अच्छी तरह मालूम है ।

साना शाम को वापस लौटा । उसने कहा, आज की रात बीत जाने दो । कल मुॅह अंधेरे जाना पड़ेगा । तुम लोगों के पास जो भी हथियार हों, साथ ले लेना ।

दूसरे दिन, मुॅह अंधेरे ही, यादवों के साथ साना आगे बढ़ चला । घने जंगल में कोई पगडंडी तक नहीं दीखती । साना पेड़ों के तनों को देखता और उन पर तीरों के निशान

ढूँढता। कहीं छोटे-छोटे पौधों की टूटी हुई टहनियाँ या फिर पत्थर के ऊपर रखी हुई कोई डाल। वह जिस दिशा का संकेत दे रही है, उधर ही जाना है। कभी पूरब कभी पश्चिम। इन निशानों को पाकर वह अंधेरे में भी हिरण की तरह चौकड़ी भरने लगता। और कभी तीर की तरह पेड़-पौधों को चीरता निकल जाता। जंगल की ढलानों में कभी चट्टानों का सामना करना पड़ता तो कभी आधे पेड़ बड़े-बड़े पत्थर की गुफाओं और पथरीली सुरंगों में से गुज़रना पड़ता। आखिर वे सब एक जगह पहुँच ही गए।

वहाँ कमर में कटार, एक हाथ में शाल वृक्ष की डाल और दूसरे में धनुष लिए बूढ़े दादा किनु चाँद बैठे हैं। राजा की तरह।

किनु चाँद ने सबको पास बुलाकर कहा, "इस पत्थर के पीछे एक गुफा है। बहुत बड़ी। पहले तुम सब अपने-अपने घरों से चावल, सत्तू, गुड़, नमक लाकर यहाँ रख दो। अगर साहब लोग तुम्हें खदेड़ें या लड़ाई से भागना पड़े तो यहाँ चले जाना। घायल होने पर यहाँ आ जाना। यह सब हो जाय तो यहाँ से पहले दायी ओर जाना और फिर एकदम सीधे, पूरब की ओर। वहाँ मधु हेमब्रम पूरी फौज लिए बैठा है। वह तुम्हें बुला लेगा। अपने हाथ में शाल की डाल रखना। हुल की निशानी। वर्ना वे लोग तुम्हें पहचान नही पायेंगे। जमीदार की फ़ौज का आदमी जानकर तुम्हें मार देंगे।"

यादवों की तो असल सम्पत्ति है, गाय-भैसें। उन्होंने पूछा, "हमारी गाय भैसों का क्या होगा?"

"चलो, मेरे साथ ऊपर चलो।" बूढ़े दादा ने कहा।

सभी एक पहाड़ी की चोटी पर जा चढ़े। वहाँ से नीचे दीख पड़ा, पहाड़ियों से घिरा एक हरा-भरा मैदान। पास ही, एक पहाड़ी से झरझर करता दूधिया झरना बह रहा था।

"और कैसी गोहाल बनाकर रखते हो तुम ? हमारे तीनों देवता, मेड़को, मारांबुरू और जाहर, इन तीनों ने तुम सबके लिए कितना बड़ा और बढ़िया बथान बनाकर रख छोड़ा है! अगर साहब लोग फौज़ लेकर आते हैं तो हमारे और तुम्हारे घर की बहू-बेटियाँ, माँ-बहने और बच्चे सब यही एक साथ रहेंगे। हमारी गाय-भैंसें और बकरियाँ भी। और साना को तो ये सब जानती हैं।"

यादव लोग किनु चाँद की बात के मुताबिक काम पूरा करने चले गए। किनु चाँद खुशी में गाने लगा-खाँटि वोबोन हुल गयो हो—

"हम सचमुच विद्रोह करेंगे
सचमुच विद्रोह करेंगे हम
रोक सकेगा, किसमें दम।"

दूसरे यादवों के साथ, प्रताप यादव भी चावल, आटे और गुड़ के थैलों के साथ चल

पड़ा । दूसरे यादवों को हैरानी हुई ।

"तुम भी चल रहे हो ?"

"किनु चॉद का आदेश है !"

दूर से ही किनु चॉद दीख पड़े । प्रताप ने ज़ोर से पुकारा, "सुन रहे हो... ।"

"हॉ...परताप जादव...सुन रहा हूँ ।

"जैसा कहा था...आ गया मैं ।"

"आ जाओ ।"

प्रताप हॉफता-हॉफता पहाड़ी पर जा चढ़ा ।

"मेरे लिए क्या हुकुम है ? वे सब तो उधर चले ।"

"हम जंगल में, तुम गॉव में । उधर का मोर्चा तुम्हें सम्हालना है । अगर हम इस हुल में जीत गये तो साथ-साथ खुशियॉ मनायेंगे ।... नाचेंगे गायेंगे... । और अगर हार जीत का खेल चलता रहा और मान लो कि हम हार ही जायें तो दुश्मन गॉव में घुस पड़ेंगे । तुम गॉव के लोगों की जान बचाने उन्हें पहले यही, इस जंगल की तरफ भेज देना । बाद में तुम भी चले आना । इनको बचाना हमारा धर्म है । जो ज़ख्मी होंगे उन्हें बचाना हमारा काम है । सारा काम आदेश के मुताबिक करना है ।"

"ठीक है ।"

"आज तीन-चार लोगों का भोजन भिजवा देना । खबर मिली है, हमारे कुछ लोग घायल हो गये हैं । उन्हें यही लाया जा रहा है ।"

"भेज दूँगा । शाम तो हो ही जायेगी । इसलिए साना को नही भेजूँगा । मैं खुद आ जाऊँगा । अभी चलता हूँ ।"

प्रताप का हौसला देखकर दूसरे सभी यादव, जो अब तक कुछ तय नहीं कर पाये थे, वे भी 'हुल' में शामिल होने को तैयार हो गये । यह प्रताप यादव भी बड़ा छुपा रुस्तम था । हुल के सारे काम में अंदर-ही-अंदर हर तरह की मदद पहुँचा रहा था लेकिन बाहर से शांत और खामोश । प्रताप और साना वापस गॉव लौट आये थे ।

'हुल' का सारा समाचार शाल वृक्षों के पत्तों, पत्थर के ऊपर रखी डालियों और तीर के संकेतों से जंगल में लगी आग की तरह, आस-पास फैलने लगा ।

यादवों के जाने के चार दिनों के बाद ही, संग्रामपुर में घमासान लड़ाई हुई । उस लड़ाई के बारे में कोई क्या कहेगा भला ? उसका सारा वृत्तांत संताली समाज के लोकगीतों में मिलता है । ये आज भी बड़े उत्साह से गाये जाते हैं ।

पियालापुर में अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी । संग्रामपुर में अंग्रेजों ने तोप, बन्दूक और गोला-बारूद से हमला किया । संतालों की सेना पहाड़ पर तैनात थी और अंग्रेजों की

नीचे थी। तीर-धनुष और फरसे से लैस तीन सौ संतालों के साथ यादव, कुम्हार, कुर्मी, बढ़ई; सभी इस 'हुल' में जान की बाजी लगाये लड़ रहे थे। इनका नेता था सिदु और कान्हु संताल का छोटा भाई चाँदराई।

'हुल...हुल' की हुंकार के साथ, चाँदराई की सेना पहाड़ी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक टूट पड़ती। चालाक अंग्रेजों की फौज पहले खाली बन्दूकों से निशाना साधती। चाँदराई इस तरह कोई छल-बल नहीं जानते। उन्होंने कहा, "वे मुकाबला नहीं जीत पायेंगे। उनके पास गोली भी नहीं।"

इसके बाद एक-एक कर गोली और गोला बारुद की बौछार होती रही। हजारों-हजार संताल इकट्ठे होकर नगाड़े और घॉसे पीट रहे हैं। सिदु और कान्हु तीर-कमान से लैस साथियों के साथ उनका मुकाबला कर रहे हैं। तीर और गोलियों की लड़ाई में सिदु और कान्हु जख्मी हो जाते हैं। संग्रामपुर की मिट्टी खून से लाल हो गयी है।

यह कब की घटना है। अब वह सब गीतों में ही सुन पड़ती है...

"सिदु, तुम क्यों हो लहूलुहान
कान्हु, तुमने क्यों कहा था 'हुल'
हुल का क्या मतलब ?
हमने अपने भाइयों के लिए किया रक्त में स्नान
बनिया और चोरों के गिरोह ने हड़प ली...
हमारी ज़मीन और खेत खलिहान।"

...कहाँ है सिदु, कहाँ है कान्हु? अगर वे मिल जायँ तो क्या उन्हें पकड़ रखोगे ? लेकिन अब वे कहाँ मिलेंगे भला ?

यादव और संताल सिदु और कान्हु के साथ, दूसरे ज़ख्मी लोगों को महुआ जंगल वाली गुफा में उठा ले आये। कइयों ने लड़ाई में और फिर जंगल में घायल पड़े-पड़े दम तोड़ दिया था।

प्रताप यादव ने ग्वाला टोली और संताल टोली के सारे लोगों को जंगल के बहुत भीतर पहुँचा दिया था। सिदु और कान्हु समेत सारे ज़ख्मी योद्धाओं को गुफा में रखा गया था, जहाँ उनकी सेवा-टहल हो रही थी। गुफा में दूसरे लोगों को इसलिए नहीं रखा गया था कि अगर बच्चे शोर मचाएँ और दुधमुंहे बच्चे रोने लगें तो अंग्रेज़ वहाँ पहुँच सकते हैं।

जंगल के अंदर, जहाँ सूरज की किरणें भी नहीं पहुँच सकती थी, वहाँ भी प्रताप यादव जा पहुँचा। उसने सिदु और कान्हु के कान में फुसफुसाकर कहा, "चिन्ता की कोई बात नही है। उनके ठीक होते ही, सब ठीक हो जायेगा", इतना कहकर वह वापस चला आया।

फिर कातिक का महीना आ गया । पेड़ के पत्तों से टिप... टिप... ओस टपकने लगी । प्रताप ने गाँव के लोगों में भरोसा पैदा किया और उन्हें जंगल आने को तैयार किया ।

साना और दूसरे-चरवाहों पर मुसीबत टूट पड़ी । भैसों और गायों को जंगल के काफी अंदर तक हाँक कर ले जाना आसान काम नही था । लेकिन सुविधा यह थी कि ये चरवाहे एक साथ तीस-बत्तीस गाय-भैंसे चरा लेते थे और ये भी अपने चरवाहों को पहचानती थी । भैंसें बड़ी समझदार थी । बाघ या तेन्दुए के दीखते ही ये गायों को चारों ओर से घेर कर एक साथ अपने नुकीले सींग तान लेती । फिर तो बाघ जैसे खूंखार जानवर को भी पीछे हट जाना पड़ता ।

गाँव वापस लौटने के पहले साना ने बूढ़े दादा किनु चाँद से पूछा—

"दादू, क्या अब हुल नही होगा ?"

किनु चाँद और जगन्नाथ मालवैद्य अभी जड़ी-बूटी तैयार कर, घायल लोगों की मरहम पट्टी में लगे थे ।

पास ही, किसी गुफा में संताल सरदार सिदु और कान्हु का इलाज चल रहा था । उन्हें देखने को साना की आँखें बेचैन थीं । उन दोनों का नाम आज लोगों की जुबान पर था । दुश्मन भी उनकी बहादुरी की चर्चा करते थे । वे दोनों आज, सबकी आँखों से ओझल अंधेरे में, फूस के बिछौने पर पड़े थे । किसी को क्या मालूम कि इस अंधी गुफा में भी दो घायल शेर पड़े हैं । खामोश और निश्चल ।

साना की बात सुनकर किनु चाँद ने कहा, "होगा ...बाद में होगा ।" अभी तू चला जा । ये सारी बातें बात में होंगी ।"

साना ने फिर कहा, "अच्छा दादू, मंडोको की मनौती से सब ठीक नही हो जाएगा ? तुम कहते हो न हमारे देवता सब सुनते हैं ?"

"वह सब बाद में," दादू इतना कहकर चुप हो गये ।

साना का जी छोटा हो गया । वह दुखी मन से गाँव लौटा । क्या हमारे सिदु और कान्हु अच्छे नहीं होंगे । क्या हुल नही होगा अब ? उसने भारी मन से अपने साथी चरवाहों से कहा, "भाइयों, तुम सब गाँव वापस चले जाओ । दाल-चावल, चारा, कथरी और घटाई जो भी मिले, वह सब भैंस की पीठ पर लादकर ले आओ । ये सारी चीजें जंगल के भीतर पहुँचानी है । प्रताप यादव और गाँव के दूसरे लोगों को भी यह बता देना ।"

"तू यहाँ क्या करेगा ?"

"मैं भी आ रहा हूँ... बाद में ।"

साना अब चरवाहा ही नही था । वह इन सबका नेता था । सब साना की बात बड़ी

खुशी से मानते थे।

"गाय-भैंसें तो चली गयीं जंगल के भीतर। अब चार-छह जनों को वहाँ एक-एक कर पहरा भी देना है। बाकी सब पेड़ों में छुपकर चौकसी करना। डाल और पत्ते लपेटकर। एक के बाद एक।"

"क्यो।"

"अगर गाँव की तरफ सिपाही घुसें तो जैसे भी हो, मैं उन्हें अपने ज़हर बुझे तीर का निशाना बनाऊँगा।"

"तू अकेला है ?"

"तो क्या, अगर वे मुझे मार भी डालें तो दस लोगों के मुकाबिले एक का मरना कहीं अच्छा है। इसीलिए तो यह सब कह रहा हूँ। अभी हमें लोगों की ज़रूरत है।"

सभी एक-एक कर चले गए। गाँव सुनसान हो गया। चारों ओर सन्नाटा। सर्दी शुरू हो गयी थी। रात में सेंहुड़ के फूलों की खुशबू चारों ओर फैल जाती। उसके साथ ही झिलमिलाती चाँदनी। दिन में आकाश का नीला रंग और भी गाढ़ा दिखाई पड़ता। अगर इस समय सबकुछ ठीक-ठाक होता तो गाँव-गाँव में ढोल-ढाक बजते। वंशी और मादल गूँजते। घर-घर पूजा होती। काली पूजा के दिन घर-घर दीये जलाये जाते और प्रताप के घर आतिशबाजी का खेल होता।

प्रताप की बात सोचते हुए साना का जी फिर उदास हो गया। पिछले कई सालो से मालाकार के यहाँ बारुद और कई तरह के मसाले लाकर प्रताप पटाखे और आतिशबाजी के सामान तैयार करता रहा था। इसमें साना भी उसकी सहायता करता।

प्रताप भी कैसा आदमी है। कभी-कभी एकदम बच्चों की-सी हरकत करता है। काली पूजा के दूसरे दिन "गायखिलान" उत्सव के मौके पर गाय-भैंसों के सीगों में फूलों की माला डाल देता और उनके साथ दौड़ता-कूदता।

रात में गाँव के सारे लोग आतिशबाजी जलते देखते। अब क्या वह सब हो पायेगा ? साना सोचता रहा। अचानक उसके मन में एक बात आयी। वह उछल पड़ा। हाँ, यही ठीक रहेगा। फूस के मचान के पीछे प्रताप की गोहाल है, वहाँ भी एक फूस का मचान है। इसके पिछवाड़े प्रताप का गोदाम घर है. उसी में बारूद रखी है और आतिशबाजी के मसाले।

तीन दिनों के बाद, शाम ढलने के समय ह्यू नाम का एक जवान अंग्रेज साहब, बीस बन्दूकधारी सिपाहियों के साथ गाँव में घुसा। उनके गांव में घुसते ही, साना फूस के लंबे रस्से के एक सिरे में आग लगाकर उसे अपने सिर के ऊपर उठाये, दौड़ पड़ा था। सावधान !

इधर मत आना अंग्रेज के बच्चे... मत आना। अरे इस घर में तो सैंकड़ों संताली तुम्हारा ही इंतजार कर रहे हैं। उनका रूप बड़ा ही भयंकर है। गॉव के सारे बच्चे और स्त्रियाँ कहीं और हैं। इधर मत आना साहब... ।

संताल योद्धा और वह भी सैकड़ों की संख्या में ?

कहाँ से आ गये सब ?

साहब और उनके सिपाहियों को कुछ नही मालूम।

यह सब सोचते-न-सोचते ही, अचानक धड़ाम...धड़ाम की आवाज से आसमान गूँज उठा। फूस के मचान हिलने लगे थे और चारों ओर आग की लपटें फैल गयी थी। इनमें से कच्चे बॉस दनादन फूट रहे थे फटाक...फटाक। इनमें पहले से ही बारूदी मसाला भरा हुआ था।

"संताल आ रहे हैं"......यह कहकर ह्यू ने अपने घोड़े का मुँह घुमा लिया और ज़ोर की एड़ लगायी। उसका घोड़ा दूसरे सिपाहियों के घोड़े से भी तेज़ भाग रहा था। आग और भी फैल गयी थी। सारा आकाश ही जल रहा था। शाम की लाली इस आग में घुल गयी थी। बाद में, रात के अंधकार में नाचते दानवो की लाल-लाल जिह्वाओं की तरह यह आग लपलपाती रही।

बॉस के टुकड़े अब भी फूट रहे थे। जिस प्रताप का घर, गोहाल और खलिहान धू-धूकर जल गया था, वही आज सबसे ज्यादा खुश था। वह कब आया और कब चला गया किसी को नहीं मालूम। उसने साना से इतना ही कहा, "जब भी वापस लौट पाऊँगा तुम्ही लोगों के सहारे फिर यह घर-ऑगन गोहाल और चौपाल तैयार हो जायेगा। खेत-खलिहान खुशी में झूम उठेंगे।"

पत्थर से बने चूल्हे में संताली लड़कियॉ, लकड़ियॉ झोंक रही थीं। सब खिलखिला रही थी। उन्होंने साना को घेर लिया था और उसकी बहादुरी के गीत गा रही थी।

इधर साना गुफा के अंदर जा पहुँचा था। तब सारे लोग गुफा को छोड़कर जा रहे थे। इनमें से दो के लिए सबने रास्ता छोड़ दिया था।

"साना"- कान्हु ने पुकारा।

साना घुटने टेककर बैठ गया। कान्हु ने उसके सिर पर हाथ रखा और पास खड़े किनु चॉद से कहा- "हुल तो चलते रहना चाहिए।" और फिर साना से पूछा, "है कि नही ?"

साना ने अपना मुँह ऊपर उठाया। ओ मॉ। कानु के होठों पर हंसी थी और उधर सिदु भी मुस्करा रहा था। यह तो साना का सौभाग्य है। उसे विश्वास नहीं हो रहा अपनी ऑखों पर। उसने अपनी आँखों को बंद कर लिया, फिर खोल लिया। मानो कही कुछ भी नही, कोई भी नही। सिर्फ खड़ा है यह जंगल.... यह शाल वन..... और दूर-दूर तक फैला

यही शाल वन... ।

साना उठ खड़ा हुआ । किनु चाँद ने कहा, "साना, देख तो उस हरिण को ... कैसी चौकड़ी भर रहा है । शाल की छाल में हरिण का मांस लपेटकर और फिर उस धीमी-धीमी आँच में पकाकर खाने में बड़ा अच्छा लगता है । बहुत दिनों से खाया नहीं ।"

सााना ने गर्दन हिलाकर हामी भरी और फिर अपना धनुष उठा लिया । □

अनुवादक : डॉ. रणजीत साहा

परिणति

डॉ. रामदरश मिश्र

"महत्वाकांक्षा की पूर्ति आसानी से तो हो नही जाती, उसके लिए न जाने कि़तने पापड़ बेलने पड़ते हैं । यदि औरतें अपनी शक्ति से बहुत ज्यादा महत्वाकांक्षी हो जायें तो पुरुष उनका दुरुपयोग करने में कहाँ चूकते हैं ? शीला जी को मैंने कभी प्रतिभाशाली तो क्या, प्रतिभा के आस-पास भी नही देखा और वे शीघ्र-से-शीघ्र प्रिंसिपल या इंस्पेक्टर बनना चाहती थी ।" ऐसी महत्वाकांक्षी औरतों के पतियों की क्या स्थिति होती है जो उनके बल पर अपनी 'प्रगति' चाहते हैं, इसका स्वाभाविक चित्रण प्रख्यात कथाकार रामदरश मिश्र ने प्रस्तुत कहानी में किया है ।

उस दिन मेरे मित्र उदय अपने नेता मित्र सत्येन्द्र से मिलने यू. पी. भवन गये हुए थे । साथ में मैं भी था । मित्र तो मिले नही किन्तु उनके कमरे में एक फटेहाल आदमी दिखायी पड़ा । दुबला-पतला शरीर, हड्डियां निकली हुई, बाल सफेद और बिखरे हुए, कपड़े गंदे और जगह-जगह से फटे हुए । उसकी भूरी-भूरी आँखों से मेरी आँखें टकरा गयीं और लगा जैसे मेरी आँखों में एक पहचान छटपटा रही है - 'कौन है यह आदमी, इसे कहीं देखा है ।' उसने हमें एक बार देख कर आँखें फेर ली ।

"कहां गये हैं नेता जी ?" उदय ने पूछा ।

"किसी मंत्री से मिलने गये हैं । कह गये हैं कि उदय जी आयें तो बैठाइएगा ।"

"चलो नेता को अपना दिया हुआ समय याद है, यही बहुत बड़ी बात है ।.. आप, आप क्या उनके सर्वेंट हैं ?"

"व्हट नानसेंस ? आइ एम नाट हिज सर्वेंट, आइ एम हिज फ्रेंड ।"

" माफ कीजिए भूल हुई। दरअसल आपकी सादगी देखकर भूल हो गयी। कभी-कभी सादगी भी कितना धोखा दे देती है न। वैसे आप अपने बारे में कुछ बतायेंगे ?"

"मैं बलिया का मशहूर बैरिस्टर जीवन मिश्र हूँ। आइ एम प्रेसिडेंट ऑफ सो मेनी इंस्टीच्यूशंस यू नो ।"

"सॉरी मिश्र जी, इतने बड़े आदमी का मैंने अनजाने में अपमान कर दिया। आपकी सादगी का तो जोड़ नहीं है । कह कर उदय थोड़ा मुस्कराये । मैं भी मुस्कराया । हम दोनों ने एक दूसरे को मुस्कराते हुए पकड़ लिया ।

"तो आप तो नेता जी के साथ घूमने-फिरने आए होंगे। वैसे इन दिनो कोर्ट में छुटिटयां तो नही हैं ?"

"हां छुट्टियां तो नही हैं किन्तु उनकी परवाह कौन करता है । हम अपने मन के राजा हैं । जब चाहें, जहां चाहें, आयें-जायें । क्यों है न ?"

"हां, सो तो है ।"

मैंने गौर किया कि जीवन जी बार-बार मुझे गौर से देख लेते थे ।

जैसे कुछ पहचानने की कोशिश कर रहे हों ।

"तो चलते हैं मिश्र जी ! नेता जी आयें तो कह दीजिएगा फिर आऊँगा । फिलहाल मुझे काम है ।"

"अरे रूकिए, अभी आ जायेंगे ।"

"नही, कहीं उलझ गये होगे और मुझे एक जरूरी काम है ।"

"अच्छा, यह बताइए कि यहॉ से चांदनी चौक जाने के लिए कौन-सी बस मिलेगी ?"

"बस ? अरे, टैक्सी पकड़ लीजिए। वह आसानी से पहुँचा देगी जहॉ
जाना चाहेंगे ।"

"टैक्सी ? आप मेरी सादगी देख रहे हैं न । जब बस से तीन-चार रूपये में जाया जा सकता हो तो टैक्सी में सौ रूपये क्यों खर्च करूँ ?"

"सही फरमाया आपने । कितने ऊँचे खयाल हैं आपके। लेकिन मैं तो स्कूटर से चलता हूँ, बसों के रूट का पता नही है। हाँ, ये पांडे जी बतायेंगे।" उन्होंने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा ।

मैंने दो-चार बसों के नंबर बता दिये ।

हम चलने लगे तो जीवन जी बोले—"नेता जी से कोई काम था क्या ?
हो तो बता दीजिए, मैं उनसे कह दूंगा ।"

"नहीं नहीं, कोई काम नही था । हम लोग सहपाठी रहे हैं, मित्र हैं । मिलते हैं तो खूब गपशप होती है । मैं अपनी आपबीती और जगबीती कहता हूं, वे अपनी आपबीती और जगबीती कहते हैं ।"

मुझे लगा कि जीवन जी किसी विशेष आशंका भाव से उदय की ओर देख रहे हैं । "चलो भाई, अखिलेश जी अब चलते हैं ।"

बाहर आये तो मैं बोला-"उदय, जब जीवन जी ने अपना परिचय दिया तो तुम मुस्कराये क्यों थे ?"

"और तुम भी तो मुस्कराये थे ।"

"मैं तो तुम्हें देख कर मुस्कराया था ।"

"अरे भाई इनका परिचय सुनकर मुस्कान इसलिए आ गयी कि इन्होंने क्या ठाट से अपना परिचय दिया और सचाई यह है कि यह एक फटीचर आदमी बन कर रह गया है ।"

"तो तुम क्या इन्हें पहले से जानते हो ?"

"इन्हें देखा तो बस एक बार था किन्तु इनके बारे में सुना बहुत था । मेरे मित्र सत्येन्द्र ने इनके बारे में बहुत सुनाया है ।"

"अच्छा, तभी वह चौंका था जब तुमने कहा था कि सत्येन्द्र जी तुम्हे आपबीती और जगबीती सुनाते हैं ।"

"हॉं थोड़ा चौंका था, थोड़ा डरा भी था ।"

"साला, बदमाश, लफंगा, लुच्चा.. ।"

"अरे तुम किसे गाली दे रहे हो भाई । मैंने ऐसा क्या कह दिया था कि ये तोहफे बरसा रहे हो ?"

"अरे तुम्हें नही यार, उस जीवन को उपहार दे रहा हूँ ।"

"अरे, तो तुम इन्हें जानते हो ?"

"अरे, मैं इस साले को नहीं जानूंगा ? यह मेरा पड़ोसी रहा है और मेरी जिन्दगी बरबाद कर दी थी ?"

"अच्छा-अच्छा तभी तुम मुस्कराये थे । मेरी मुस्कान में ऐसा क्या था कि तुम देखकर मुस्कराते ?"

"हॉं सच है । इसीलिए मैं मुस्कराया था । लेकिन उदय भाई, मुझे यह कल्पना नही थी कि इससे इतने दिनों बाद इस हाल में भेंट होगी ।"

"क्यों, कितने दिनों बाद मिल रहे हो ?"

"अब इसका अन्दाजा इसी बात से लगा लो कि हम दोनों एक दूसरे को पहचान नही सके। जब से मैं दिल्ली आया तब से इसके बारे में कुछ खास नहीं जान पाया। एक बार घर जाने पर इतना ज्ञात हुआ कि जीवन बलिया छोड़ कर बनारस चला गया है।"

"उसके बाद की कहानी मैं जानता हूं। अरे, ये सत्येन्द्र जी हैं न, उनके पड़ोस में ही तो यह रहता है। उन्होंने इसके बारे में बहुत कुछ बताया है। एकाध बार, जब मैं सत्येन्द्र के यहां गया हूँ तो इसे इसके नये रूप में देखा भी है।"

"तो चलो, कहीं पार्क में बैठते हैं और इसकी कहानी सुनते हैं।"

"सुनते हैं नहीं, सुनते-सुनाते हैं। कुछ मैं कहूं, कुछ तुम कहो.।" मैं हॅसा।

"तो पहले तुम सुनाओ।" मैंने कहा।

"नही, पहले तुम सुनाओ। पहले पूर्वार्ध होगा तब न उत्तरार्ध होगा।"

"नही, आज थोड़ा विपर्यय ही होने दो ताकि कुछ सस्पेंस भी बना रहे हम दोनों को।"

"तो ठीक है। तुमने कहा कि जब से वे बनारस आये तब से उनके बारे में कुछ खास नहीं जाना और मैंने जो कुछ खास जाना, वहीं से जाना।. मैं उस दिन सत्येन्द्र के यहॉ गया हुआ था। उनके पड़ोस के घर में कुछ डांटती-डपटती, गाली देती हुई एक महिला आवाज उठ रही थी। मैंने सत्येन्द्र की ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखा। वह मुस्कराया और बोला. "रोज की बात है।"

"लेकिन है क्या?"

"वे अपने पतिदेव पर बरस रही हैं।"

"अच्छा-अच्छा, पतिदेव पकड़े गये होंगे कहीं और मुँह मारते हुए।" सत्येन्द्र मुस्कराये। फिर बोले—नही ऐसा नही। वे घर से बाहर निकलें तब तो मुँह मारें।"

"यानी कुछ करते नहीं हैं।"

"करते हैं, करते हैं। वो देखिए।" सत्येन्द्र ने इशारा किया।

"मैंने देखा, एक दुबला-पतला फटेहाल व्यक्ति सायकिल के पीछे कनस्तर लादे धीरे-धीरे खींचता हुआ जा रहा था।"

"इसमें क्या देखूं? इस घर का कोई नौकर होगा।"

"नहीं नहीं, शौहर है।"

"होगा शौहर। क्या गरीब लोगों के शौहर आटा नहीं पिसाते?"

"लेकिन यह गरीब घर नहीं है। इसकी पत्नी स्कूल की इंस्पेक्टर है। घर में आधुनिक जीवन के सारे साजोसामान हैं।"

"तो ? तो फिर, यह क्या है?"

"वही है, जो तुम देख रहे हो।"

"जो देख रहा हूँ, क्या सब कुछ उतना ही है ?"

"नहीं, वह सब कुछ की ओर इशारा है। यही सज्जन अभी डांटे जा रहे थे। कभी-कभी मारे भी जाते हैं।"

"मगर क्यों ?"

"जब वे अपने अतीत में डूबने का प्रयास करते हैं। जब अतीत में डूबते हैं तो निकम्मे हो उठते हैं और उसका दंड उन्हें भोगना पड़ता है।"

"मैं समझा नहीं। जरा खुलासा करो।"

"ये इस घर में चौका-बरतन करते हैं, झाड़ू-पोचा करते हैं, खाना बनाते हैं, साग-सब्जी तो ले ही आते हैं, आटा तो पिसाते ही हैं। बीबी का कोई प्रिय व्यक्ति आ गया तो उसकी भी सेवा करनी होती है।.. खाने-पहनने को क्या पाते हैं, उनके शरीर और कपड़े-लत्तों से तुमने अंदाजा लगा ही लिया होगा..।"

"हॉं, वह तो देखा किन्तु अतीत वाली बात क्या है ?"

"घर में यह सब काम करते-करते जब उन्हें याद आ जाता है कि वे बलिया में क्या थे और अब क्या हो गये हैं तब उनका स्वाभिमान जाग पड़ता है। सोचते हैं, यह सब गलीज़ काम वे नहीं करेंगे लेकिन नहीं करेगे तो क्या करेंगे ? जब पत्नी सामने आ जाती हैं और खाना मांगती हैं या चीजों को अस्तव्यस्त देखती हैं तो उबल पड़ती हैं। उसे देखते ही उनका सारा अतीत हवा हो जाता है और वर्तमान दहाड़ने लगता है।

"लेकिन, बात इनका अतीत ?"

"विस्तार से तो कुछ खास नही मालूम किन्तु सुना है कि ये किसी बड़े घर के थे और बलिया में इनकी बहुत अच्छी वकालत चलती थी। इनकी भरी पूरी गृहस्थी थी।"

"तो ससुर बलिया छोड़ कर बनारस में क्या करने चले आये ?"

"भाग्य खीच लाया या कहो मायावी औरत खीच लायी।"

"कुछ विस्तार से बताओ यार, मुझे कुछ विचित्र लग रहा है। हँसी भी आ रही है, गुस्सा भी और दर्द भी।"

"अब उनके अतीत के बारे में तो विस्तार से नही जानता किन्तु बनारस आने के बाद की जिन्दगी के बारे में सुनता भी रहा हूँ, देखता भी रहा हूं। और धीरे-धीरे जीवन मेरे करीब आते गये, मुझसे सहायता मांगते गये तो उनके दर्द को भोगता भी रहा हूँ।"

"अब कुछ बताओगे भी या भूमिका ही बांधते रहोगे।"

"इनकी पत्नी शीला इंस्पेक्टर हैं। पहले गाजीपुर में थी। तब वे स्कूल शिक्षिका थीं। सुन्दर तो थीं ही, महत्वाकांक्षी भी खूब थीं। महत्वाकांक्षा की पूर्ति आसानी से तो हो नही जाती, उसके लिए न जाने कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं। यदि औरतें अपनी शक्ति से बहुत

ज्यादा महत्वाकांक्षी हो जायें तो पुरूष उनका दुरूपयोग करने में कहां चूकते हैं? शीला जी को मैंने कभी प्रतिभाशाली तो क्या, प्रतिभा के आस-पास भी नही देखा और वे शीघ्र-से-शीघ्र प्रिंसिपल या इंस्पेक्टर बनना चाहती थी। इसलिए, किसी-न-किसी बहाने शिक्षाधिकारी के यहां जाया करती थी। सुना है कि जीवन जी शिक्षाधिकारी के मित्र रहे हैं। उनके यहां आया-जाया करते थे। उन्ही के यहां इनकी देखा-देखी हुई। आँखें मिली। जीवन तो बस देखते ही लट्टू हो गये और शीला को लगा कि इस आदमी के बहाने उनका काम हो सकता है अतः वे भी रीझती गयी।"

कुछ देर की चुप्पी के बाद मैने पूछा—"तब?"

सत्येन्द्र मुस्कराये बोले—"अरे, इस बिन्दु पर कुछ क्षण ठहर कर इनके प्रथम मिलन के आनंद का अनुभव करोगे कि सरपट भागते ही रहोगे। 'तब' 'तब' मचाये हुए हो।"

मैं मुस्कराया और सचमुच मेरी कल्पना में उन दोनों का आकर्षण अपना उजास फेंकता गया-फेंकता गया।

"तब ?" कुछ देर बाद मैं फिर बोला।

हम दोनों ठठाकर हँस पड़े। सत्येन्द्र बोले—'अच्छा, सुनो बाबा। फिर तो जीवन हर सप्ताह यहां आने लगे। रंगरेलियां मनने लगी। शीला की महत्वाकांक्षाएं परवान चढ़ने लगीं। उन्हें ज्ञात हो गया कि जीवन बहुत संपन्न परिवार के हैं, इनके पास बहुत पैसे है, कारें हैं, बड़ी कोठी है, बड़े वकील तो हैं ही। और सबसे बड़ी बात तो यह कि इनके कारण वह अभी-अभी सब-इंस्पेक्टर बनी है, चंद रोज मे इंस्पेक्टर बन जायेगी।...फिर उससे भी आगे जायेगी। उसने शीला को यह भी बता रखा था कि वह विधुर है।"

"क्या सचमुच विधुर था?"

"नही, यह तो बाद में मालूम हुआ, जबकि शीला और उसके संबंध बहुत आगे बढ़ गये थे। जब शीला को ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी है तो बहुत चीखी-चिल्लाई, गुस्सा हुई। जीवन ने कहा—मैं तुमसे कोई झूठ नही बोला हूँ। वह मेरी पत्नी होकर भी नही है। बरसों से उससे मेरा कोई संबंध नही है। मैं तो विधुर से भी गया-बीता हूँ। यदि उससे संबंध ही होते तो क्या मैं दूसरी औरत की ओर आकर्षित होता ?'

"फिर ?"

"फिर क्या ? दोनों के संबंध इतने आगे बढ़ गये थे कि शादी के सिवा और कोई चारा नही था। जीवन तो चाहता रहा कि शीला उसकी रखैल बनकर चलती रहे किन्तु शीला ऐसा क्यों करती ? वह तो हर तरह से उसकी स्वामिनी होना चाहती रही...फिर मुसलमान बनकर जीवन ने शादी कर ली। अपना नाम रखा अज़ीज़।"

"वाह रे अज़ीज़ मियां। क्या कहने आपके ? फिर क्या हुआ?"

"फिर तो बहुत कुछ हुआ। धीरे-धीरे बलिया छूटने लगा। चलती हुई वकालत लंगड़ाने लगी। महीने में बीस दिन बनारस रहता, दस दिन बलिया में। शीला ने कहा—अब तुम बनारस में ही वकालत करो। छोड़ो बलिया-सलिया। अपने मकान और अन्य प्रापर्टी बेच डालो। अपना बैंक एकाउंट यहाँ ट्रांसफर करा लो। तुम्हारे पास खेत-वेत भी काफी हैं, उन्हें भी निबटा दो।"

"ठीक है, ठीक है जानेमन।"

"लेकिन एक दिन, जब जीवन बलिया से लौटे तो घायल थे। उनके साथ पड़ोस का एक दोस्त भी आया। उसने एकांत में शीला को बताया कि इन्होंने अपने हिस्से का मकान और खेत आदि बेचने के लिए ज़िद की तो इनके भाई और बेटों ने खूब पीटा और कहा—'खबरदार फिर यहाँ आये तो? जाओ, उसी चुड़ैल के पास जाओ।"

"बेटे ? इनके बेटे भी हैं ?" शीला ने पूछा।

"हॉ, दो बेटे हैं। इनके बाप ने इनके हिस्से में आने वाली सारी पुश्तैनी मिल्कियत उनके नाम कर दी है।"

"और इनका बैंक बैलेंस?"

"पता नही है कि नही ? बहुत दिनों से इनकी वकालत ठप्प है और इनका खर्च-वर्च उसी तरह चालू है।"

"शीला के तन-मन में आग लग गयी। अरे, अब यह पतझर उसके हिस्से में आया है। इसके लिए उसने अपना सब कुछ लुटाया और पाया क्या ? उसके सारे मोहक सपने एकाएक छिन्न-भिन्न हो गये। धीरे-धीरे उसका प्रीति भाव एक दयाभाव और घृणाभाव में परिणत होता गया।"

"ओ, तो यह बात है।"

"हॉ, शीला की प्रेरणा से उसने यहॉ वकालत शुरू की लेकिन नहीं चली। बस वह कचहरी जाता था, आता था। फिर वह भी छूट गया और धीरे धीरे वह शीला का घरेलू नौकर बनकर रह गया। शीला को भी कोई नुकसान नहीं है, वह नौकर तो है ही पति भी है, जो उसके स्वच्छन्द कार्यों के लिए एक आड़ तो है। वह बांझ है। न भी होती, तो पति का बहाना तो था ही।"

"तो ? आप और जीवन जी।"

"हॉ, जीवन मेरे पास आता रहता है। वह चाहता है कि मैं कहीं नौकरी लगा दूं। कहीं जाता हूँ तो कभी-कभी मेरे साथ हो लेता है, इस आशा में कि शायद कहीं कोई बात बन जाय।"

कहानी सुना चुका तो उदय ने मेरी ओर देखा और बोला "कितना दर्दनाक है यार, यह

सब कुछ।"

"इस नरक के कीड़े को यही होना था—कमीना सुअर का बच्चा।" मैंने कहा।

"अरे नहीं यार, अखिलेश ऐसा मत कह।"

"अरे तुम नहीं जानते हो उदय, इसने मेरी ज़िन्दगी खराब करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। इसके कारण मैंने कितने-कितने नरक भोगे हैं। दिल्ली ने उबार लिया, नहीं तो मैं कहीं का न होता।"

उदय ने मेरी ओर इस तरह देखा, जैसे मुझे पूर्वार्ध की कहानी सुना देनी चाहिए।

"तुम्हें पता तो हो ही गया उदय कि यह एक बहुत संपन्न घर का आदमी रहा है। इसके पिता बहुत बड़े ठेकेदार थे। ठेकेदार होकर उन्होंने पैसे तो खूब कमाये, इज़्ज़त भी कमाई। वे बहुत सम्मानित व्यक्ति थे। श्रीसंपन्न होकर भी अपने अड़ोसियों-पड़ोसियों, संबंधियों, मित्रों से बहुत विनम्र और स्नेहभरा संबंध रखते थे। उनकी बड़ी आलीशान कोठी थी। उन्होंने बहुत प्यार से अपने दोनों बेटों की परवरिश की, शिक्षा-दिक्षा दिलाई। बड़ा बेटा जीवन वकील बना और छोटा बेटा भरत इंजीनियर। इनकी शादियाँ भी बहुत सम्पन्न देहाती परिवारों में हुईं।

शुरू में तो जीवन ठीक चलता रहा किन्तु वकील होने के बाद धीरे-धीरे उसमें बदलाव आता गया। वकालत तो चटकने ही लगी, अफसरों नेताओं और अनेक बड़े-बड़े लोगों के साथ उसके सरोकार बनते और विकसित होते गये। उसकी श्री और प्रभुता के विकास से परिवार वालों की प्रसन्नता बढ़ती गयी। वह कई सरकारी और गैर सरकारी कमेटियों का सदस्य बन गया। उसकी विनम्रता और खुलापन धीरे-धीरे एक गर्वित चुप्पी में बदलता गया।

घर वालों की प्रसन्नता को पहला झटका तब लगा, जब वह पीकर आया था। बाप ने डांटा तो चुप लगा गया। बल्कि पश्चाताप की मुद्रा में था, दुखी था लेकिन जब अक्सर शाम को पीकर आने लगा तो बाप की वर्जना को दुत्कारने लगा और एक दिन ऐसा आया जब बाप को लगा कि नहीं बोलना चाहिए।

दूसरा झटका तब लगा, जब उसने धीरे-धीरे अपनी पत्नी से मिलना बंद कर दिया। और उस रात तो इंतहा हो गयी जब वह अपनी पत्नी को पीट-पीट कर कहने लगा "पता नहीं, यह भैंस मेरे लिए कहाँ रखी थी। अरे, तुम मेरी ब्याहता हो तो रहो? घर में खाओ-पीओ, अच्छे कपड़े पहनो, जेवर पहनो पटरानी बनकर रौब गांठो; मेरे पीछे क्यों पड़ी हो? मैं तुम्हारे पास आऊं या न आऊँ, मेरी मर्ज़ी।"

अब वह कचहरी से घर लौटता तो रोज नहा-धोकर सेंट-वेंट लगा कर अपनी कार में कहीं निकल जाता और देर रात को आता। नशे में धुत्त व्यक्ति को खाने-पीने की क्या

परवाह होती ? लोगों को पता लगते देर नहीं लगी कि यह रोज शहर की प्रसिद्ध वेश्या रेश्मा बाई के यहाँ जाता है ।

जब उसे समझाया और कुछ लताड़ा गया तो वह बोला—"ठीक है, मैं उसके यहाँ नहीं जाऊँगा ।"

दूसरे दिन लोगों ने देखा कि रेश्मा स्वयं उसके यहाँ आ गयी है । उसने अपने बड़े-से अहाते में अपने लिए एक छोटा-सा फ्लैट बनवा रखा था । उसी में रेश्मा के साथ रंगरेलियां मनाने लगा । लड़के उसके बच्चों को रंडीबाज का बेटा कहने लगे तो उन्हें बड़ी पीड़ा होने लगी । उन्होंने डरते-डरते अपने पिता से यह कहा तो उलटे उन्हें चपत खानी पड़ी ।

बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, बाप के प्रति नफरत की आंच में जलते गये, जलते गये और जब-तब तनकर प्रतिवाद करने लगे ।

"सालों तुम लोगों की सारी लिखाई-पढ़ाई धरी रह जायेगी, हाथ खीच लूँगा तो ।" वह डॉट कर कहता ।

बच्चे हँसते—"आपके हाथ हमारी ओर हैं ही कहाँ जो खींचेंगे ? वे तो कहीं और हैं । यह तो दादा और चाचाजी न होते तो हम लोग कब के अनाथ हो गये होते ।"

जीवन के पिता मर गये, माँ मर गयी, तब वे और भी स्वच्छन्द हो गये । लेकिन तब तक बच्चे अपनी मंजिल के करीब पहुंच चुके थे । पत्नी भी पति की उपेक्षा से तंग आ चुकी थी । जीवन को अब पत्नी और बच्चों की सम्मिलित शक्ति का तनाव महसूस होने लगा । इसलिए उनसे निरपेक्ष होकर अपनी दुनिया में डूबते चले गये । बदनाम तो थे किन्तु बाहरी शक्तियों से उनका समीकरण उन्हें ताकत दिये हुए था । चलते रहे अपनी राह पर ।"

"उसके बाद ?"

"उसके बाद जो हुआ, उसे तुमने बताया ही ।"

"हाँ, लेकिन तुम्हारी ज़िन्दगी कहाँ नरक हुई उसके मारे ।"

"अरे हाँ, यह तो बताना ही भूल गया । बताया न, कि वह कई सरकारी, गैर सरकारी संस्थाओं का सदस्य या अधिकारी रहा है । तब मैं वहाँ एक स्कूल में मास्टर लगा था । जीवन उस स्कूल का चेयरमैन था । नियुक्ति अस्थायी थी किन्तु जगह स्थायी थी । मेरे पिता जी उसके पिता जी के अच्छे दोस्त थे । उनके बहुत कहने पर उसने अहसान लादते हुए अस्थायी नौकरी दे दी । चार साल तक इसी प्रकार चलता रहा । स्टाफ के सब लोग मुझे चाहने लगे थे । छात्र भी प्रसन्न थे किन्तु यह आदमी मुझे अस्थायी पद पर लटकाये चल रहा था । स्थायी के लिए कहने पर कहता—"हो जायेगा । चिंता क्यों करते हैं ?"

एक दिन इसने बुलाया और कहा—"एक मुकदमे में आपको गवाही देनी है ।"

"मुकदमा ? कैसा मुकदमा ?"

"वही संतराम वाला ।"

"अच्छा वो ।" याद आया । संतराम हमारे स्कूल में सीनियर टीचर हैं । एक दिन ये स्कूल में गये । एक क्लास में बच्चे शोर कर रहे थे । इन्होंने पूछा—किसकी क्लास है ?"

लोगों ने बताया—"संतराम की ।"

तब तक संतराम सायकिल खड़ी करके भागे-भागे क्लास की ओर जाने लगे ।

"ओ सुनो ।"

संतराम ठिठक गये ।

"जी कहिए ।"

"देर से क्यों आये हो ? तुम्हारी क्लास के बच्चे शोर कर रहे हैं ।"

"देखिए, मैं केवल दस मिनट लेट हूँ । मैं हमेशा घंटा भर पहले आने वाला शिक्षक हूँ । किसी से भी पूछ लीजिए । आज आ रहा था तो एक बूढ़ी औरत एक कार से टकरा कर गिर पड़ी । उसे बहुत चोट आयी, कार वाले अंधे होते हैं न, मद से अंधे । उसे रिक्शे पर लाद कर अस्पताल ले गया । फिर वहाँ से भागा-भागा आ रहा हूँ ।"

"हराम की कमाई खाने की आदत पड़ गयी है ? एक तो गलती करते हो, दूसरे झूठ बोलते हो । बुढ़िया गिर गयी तो गिर गई, तुम वहाँ मसीहा बनने क्यों गये थे ?"

"झूठ और हराम की कमाई हम शिक्षक नहीं, वकील लोग खाते हैं । वह बुढ़िया नही थी, माँ थी, दादी थी । मैं मसीहा नही, इंसान हूँ । नौकरी का मतलब यह नहीं होता कि हम इंसानियत भूल जायें ।"

"चोऽप । दो कौड़ी का मास्टर मुझसे जबान लड़ाता है । अहमक... ईडियट ।"

अनेक मास्टर वहाँ जुट आये थे । सभी सनाका खा गये । लेकिन संतराम तनकर खड़ा हो गया । बोला—"चेयरमैन जी, यह स्कूल है । मैं यहाँ तमाशा नहीं खड़ा करना चाहता । दूसरी जगह होती तो आपको बता देता कि एक टीचर से बदतमीज़ी करने का मतलब क्या होता है ?"

"अरे क्या कह रहे हो संतराम ?" प्रिंसिपल बोले ।

"कुछ नहीं प्रिंसिपल साहब ! टीचर के अपमान पर आप सभी लोग चुप हैं तो क्या मैं भी चुप रह जाऊँ ।" कहकर संतराम क्लास में चला गया और "देख लूँगा तुझे" कहते हुए जीवन अपनी कार की ओर बढ़ गये ।

कुछ दिन बाद सुना कि कहीं रास्ते में जीवन जी पिट गये । उन्होंने रपट में संतराम का नाम दे दिया ।

"क्यों चुप हो अखिलेश। कुछ बोलते क्यों नहीं।"

"नहीं चेयरमैन जी, यह नहीं होगा। जहाँ मैं था ही नहीं, वहाँ की घटना की गवाही कैसे दूँ?"

कहकर मैं चला आया और दस दिन बाद मेरी छुट्टी कर दी गयी।

दुखी मन से घर लौट रहा था, सड़क पर चलता हुआ गम में डूबा था। तब तक एक कार आकर टक्कर मार गयी। मेरा दायाँ पॉव टूट गया। दो महीने तक पलस्तर चढ़ा रहा। पलस्तर उतरने के बाद भी पांव ठीक होने में कई बरस लग गये। कहीं पॉव घसीटता हुआ नौकरी खोजता रहा, निराश होकर लौटता रहा, बाल बच्चों की भूख से अपनी भूख मिलाता रहा। ऐसे ही न जाने कितना समय बीत गया बंधु। यह तो भला हो मेरे एक संबंधी का, जिन्होंने अपने प्रभाव से दिल्ली में मुझे नौकरी दिला दी।"

"अच्छा यह बताओ अखिलेश, जब तुमने जीवन को पहचान लिया था तो अपनी पहचान क्यों नहीं खोली?"

"अरे भाई उसकी हालत देख रहे हो न। इस भुक्खड़ हालत में दो-चार दिन मेरे यहॉ आकर पड़ा रहता। मेरे यहॉ तो तुम देखते हो, आने वालों की हमेशा भीड़ लगी रहती है और एक-से-एक लोग आते हैं लेकिन इस सड़े हुए आदमी को झेल पाना मेरे लिए मुश्किल होता।"

"एक बात बताओ अखिलेश! तुम तो कहानियॉ लिखते हो और कहानीकार जब किसी पात्र को देखता है तब काफी दूर तक उसकी अनदेखी दुनिया में पहुँच जाता है। यानी जो ऊपर है, उसके नीचे भी बहुत कुछ है ? और जो ऊपर है, वह बहुत कुछ नीचे का परिणाम है। क्या तुम्हें लगता है कि जीवन के इस सारे गलीज़ क्रिया-व्यापार के नीचे कोई और बात है ? तुमने बताया था कि वह शुरू में बहुत विनम्र और मस्त आदमी था, फिर क्या हुआ ?"

मैं मौन हो गया। सचमुच, यह एक बड़ा प्रश्न था—मानवीय प्रश्न था। इस पर तो कभी विचार किया ही नही। जीवन के उस विनम्र और प्रिय व्यक्तित्व का यह रूपांतरण क्यों हुआ और कोई सोचे या न सोचे, एक लेखक को तो सोचना ही चाहिए।

"क्या सोचने लगे?" उदय ने कहा।

"तुम्हारे सवाल ने मुझे भीतर तक छेड़ दिया है। मैं अतीत की गहराई में धंसा जा रहा हूँ, कुछ याद आ रहा है। कुछ लोगों से सुन रहा हूँ। जीवन की एक बहन थी—संगीता। वह मेरी दीदी की बहुत अच्छी दोस्त थी। दीदी बताती है (और मैंने स्वयं अपनी उम्र के लिहाज़ से अनुभव किया था) कि जीवन संगीता को बहुत प्यार करता था। उस जमाने में अपने परंपरावादी पिता से लड़-झगड़ कर उसने संगीता को नृत्य की शिक्षा दिलाई। इसके

लिए उसने अच्छी फीस देकर एक नृत्य शिक्षक रखा था। घुंघरू की आवाज़ पड़ोसियों के परंपरावादी कान सह नहीं पाते थे, उनके होंठों पर एक विद्रूप हँसी तैर जाती थी—ये देखो, अब इस परिवार में नाच-गाना ही होगा। संगीता सुंदर भी बहुत थी। लोग उसकी सुंदरता के साथ नृत्य को जोड़कर न जाने क्या-क्या अर्थ निकालते रहते थे। लेकिन जीवन को इसकी चिंता नहीं थी। वह तो उस जमाने में भी किसी सभा-सोसाइटी में जाता तो संगीता को साथ ले जाता। वे भी क्या दिन थे उदय?"

"फिर?"

"संगीता की शादी हुई बहुत धूम-धाम से। दान-दहेज भी खूब दिया गया। लेकिन... ?"

लेकिन क्या ?

"वह सुखी नहीं हुई। उसके पति कालेज में भौतिक शास्त्र के प्रोफेसर थे। लेकिन उनकी मां घोर परंपरावादी ठहरीं। पहले तो उसका नाचना-गाना बंद किया, दूसरे परंपरावादी ढंग से रहने-सहने के लिए मजबूर किया। सुबह नहाओ, शाम नहाओ, जितनी बार शौच से आओ, नहाओ। स्वस्थ हो तो नहाओ, बीमार पड़ी हो तो नहाओ। छुआछूत के कठोर अनुशासन से गुजरो। जाड़े में भी केवल अधोवस्त्रा होकर खाना बनाओ।"

"और भौतिकशास्त्र कुछ नही बोलता था?"

"नहीं, वह क्या बोलेगा? उसने भी सिर पर बड़ी सी चुटिया रख छोड़ी थी और माँ का गुलाम था। बात यह है उदय कि विज्ञान बहुतों के लिए खाने-कमाने के लिए एक विषय होता है, वह उन्हें अंतर्दृष्टि नही, नौकरी देता है। ये प्रोफेसर भी ऐसे ही काठ के उल्लू थे।"

"फिर?"

"फिर क्या संगीता को क्षय रोग हो गया और मर गयी।"

"उफ! ये क्या हुआ?"

"फिर तो जीवन पागल-सा हो गया और काफी दिनों तक क्षुब्ध मानसिकता से ग्रस्त रहा। दीदी भी बहुत दिनों तक परेशान रही। उसकी इतनी प्यारी सहेली उससे छिन गयी थी। वह उस घर में जाती रही, आती रही। वहाँ की बेचैनियाँ और गतिविधियाँ बताती रही। एक दिन जीवन पहुँच गया संगीता की सास के यहाँ। वे खाना पका रही थीं। प्रोफेसर साहब नंगी देह पर रामनामी दुपट्टा डाले हुए पूजा कर रहे थे।

"हल्लो वैज्ञानिक जी, चुटिया फटकार कर पूजा हो रही है और घंटी बजायी जा रही है।" जीवन बोला।

उन्होंने छद्म मुदी हुई आँखें खोलकर देखा।

"अरे दूर, दूर रहना जीवन। जूता पहनकर इधर मत आना।"

"ठीक है, इधर नहीं तो उधर जा रहा हूँ।" कहकर चौके की ओर जाने लगे।

"अरे, अरे क्या कर रहे हो, जूते और कपड़े पहनकर मत आओ।"

"अरे, तो कहाँ जाऊँ? इधर नहीं जाऊँ, उधर नहीं जाऊँ तो जाऊँ कहाँ? कहते हुए वे चौके में घुस गये। और बोले—"अरे माता जी, कपड़े और जूते उतारने से क्या होगा, मन पर से मैल की पर्त उतारनी चाहिए। लाइए, खाना दीजिए, बड़ी भूख लगी है।"

"अरे मलेच्छ, सारा खाना खराब कर दिया और कह रहा है कि भूख लगी है। ले, अब तू ही खा। आदमी के खाने के लायक तो रहा नहीं।"

"अरे! इस घर में आदमी भी रहते हैं क्या ? अरे बुड्ढी, घंटी बजाने और दस बार नहाने तथा नंगा होकर खाना बनाने से कोई आदमी बन जाता है क्या ? तुम सब आदमी होते तो मेरी बहन की जान नहीं लेते। काश, उसे भी मेरी तरह तेरे किचन को जूते मारने की हिम्मत आ गयी होती तो सपनों से भरी जवानी में उसकी जान तो नही गयी होती।

"हे, क्या बकता है जीवन?" कहकर प्रोफेसर साहब खड़े हो गये।

"अरे मेरे वैज्ञानिक जीजा जी, आप बैठकर घंटी बजाओ मुझे अपना काम करने दो।" और उसने अपने बूट से ही खाना भरे बरतनों को उलट दिया, झन्न-झन्न।"

माँ क्रोध में आकर बकने लगी तो जीवन डपटकर बोला—चुप बुढ़िया। अब तू संगीता की सास नही है कि तेरी धौंस सहूँगा। तू डायन है डायन।... और यह तेरे आंचल में पलने वाला तेरा बेवा, चूहा है चूहा। इसके लिए संगीता जैसी पत्नी नहीं चाहिए थी, कोई चूही चाहिए थी। अब खोज कोई चूही। कहकर वह बाहर आ गया और इतने उद्वेग में था कि शायद उसी दिन पहली बार शराब पी थी। एक बार पी तो धीरे-धीरे उसके चंगुल में फंसता ही गया।"

"हाँ यार! देखो, एक व्यक्ति के भीतर पैठने पर कितने ऐसे सत्य हाथ लगते हैं परन्तु इस घटना से उसकी वेश्यागामिता, पत्नी की उपेक्षा और लंपटई का कोई रिश्ता जुड़ता है क्या?"

"नहीं, मुझे नही लगता कि जुड़ता है किन्तु कुछ और भी है, जिसे दूसरी नज़र से देखा जा सकता है।"

"वह क्या?"

"यह तो तुम्हें पता होगा ही कि पूरब में जल्दी ही शादी हो जाती है। जीवन की भी तब शादी हुई, जब वह मैट्रिक में था। तब कोई लड़की कहाँ देखता था। बाप ने एक बहुत बड़े जमींदार के यहाँ शादी कर दी। काफी दान-दहेज मिला। किन्तु लड़की ? काली-कलूटी, असुंदर नाटी-सी। कीमती कपड़े और जेवर कब तक असुंदरता को

ढकते। जीवन जी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, ज्यों-ज्यों सौन्दर्य की दुनिया के बीच अपने को पाते गये, ज्यों-ज्यों दुनिया का सौन्दर्य उनकी और खिंचता गया पत्नी से विरक्ति बढ़ती गयी। और फिर जो हुआ वह पता ही है।"

"विचित्र है यार। अब पत्नी सुंदर नहीं है तो इसमें उसका क्या दोष? आखिर वह विवाहित पत्नी है, उसका अधिकार तो बनता है न।"

"बिलकुल ठीक कह रहे हो, मगर इसमें दोष किसका है? क्या जीवन का? उनके बाप ने धन-दौलत देखकर एक जमीदार की असुंदर बेटी से उनकी शादी कर दी तो इसमें जीवन का क्या दोष ? वह पत्नी तो है किन्तु सौन्दर्य से दीप्त, पढ़े-लिखे जीवन का सौन्दर्य-खोजी मन उससे तृप्त नहीं होता और इधर-उधर भटकता है तो इसके लिए उन्हें भी कैसे दोषी माना जाय?"

"हाँ, यह भी ठीक कह रहे हो। दोष-निर्दोष का चक्कर कुछ इतना पेचीदा है दोस्त कि उसका सिरा ढूँढ पाना आसान नहीं है। न जाने उसमें कितनी-कितनी चीज़ें उलझी हुई हैं। सीधे-सपाट ढंग से देखो तो बड़ी आसानी से हम दोष-निर्दोष, भले-बुरे का फैसला कर लेते हैं किन्तु गहराई में जाओ तो चीज़ें उलझती चली जाती हैं, सूत्र सूत्र से जुड़ते चले जाते हैं...।"

"अब यही देखो, अभी तक हम लोग बहुत साफ-सुथरे ढंग से जीवन के जीवन और व्यक्तित्व की गलाज़तों को देख रहे थे, उन पर हंस रहे थे, घृणा कर रहे थे, क्रोध कर रहे थे, किन्तु ज्यों ही थोड़ा ठहरकर गलाज़तों के अंदर देखना शुरू किया, उनका रंग बदलने लगा, दूसरे आयाम खुलने लगे और मन इतनी आसानी से जीवन पर न हंस पा रहा है, न घृणा कर पा रहा है, न क्रोध कर पा रहा है बल्कि एक यंत्रणा-बोध-सा अनुभव हो रहा है।"

"हाँ" ठीक कह रहे हो।"

"और मुझे लग रहा है दोस्त कि मुझे उसे अपने घर ले जाना चाहिए था। दो-एक दिन ठहर ही जाता तो क्या हो जाता?"

हम दोनों जब पार्क में से उठे तो दोनों गंभीर थे, लगता था कि कुछ कहने को अब नही है। □

लगाव

महेश दर्पण

टेलीविज़न, जिसे ज्ञानी लोग बुद्धू-बक्सा कहते हैं, हमारे पारिवारिक जीवन की आवश्यकता बन गया है। इसके बिना घर सूना-सूना लगता है और बच्चों को अधूरा-अधूरा। ऐसे में बुद्धू-बक्सा खराब हो जाए तो घर में ऐसी शान्ति छा जाती है, जो लगातार कचोटती रहती है। घर की पुरानी चीजों से लगाव मध्यवर्गीय परिवार की एक बड़ी कमजोरी है। इसी लगाव के कारण घर कबाड़ लगने लगता है। एक ऐसे ही पुराने टी.वी. से लगाव का कथात्मक चित्रण कर रहे हैं, युवा कथाकार महेश दर्पण।

पूरे दो महीने हंसते-खेलते गुजर गए थे। हर रोज, सुबह साढ़े सात बजे घर से निकलना होता। दिन भर दफ्तर से निपटा जाता और फिर पांच-छह के बीच घर लौट आते।

पत्नी प्रसन्न थी। परम सुखी। सोचती—'लगता है, आजकल इनका दिमाग पटरी पर चल रहा है। वरना दफ्तर से निकलकर घर की सीध का रास्ता पकड़ना कहाँ संभव था इनके लिए।'

कई दिनों तक, जब यही असंभव संभव होता रहा तो पत्नी को लगा, बारह बरस बाद शायद मनु के पापा में भीतर-ही-भीतर फिर से नया आकर्षण पैदा हो गया है।

वह आते, वह पानी भरा गिलास हाथ में थमाते हुए उन्हें गौर से देखती। वह बैठ जाते, वह चाय बना लाती। वह कपड़े बदल लेट जाते, वह पलंग के पास ज़मीन पर बैठ सब्जी काटने लगती। गरज़ यह कि ज्यादा-से-ज्यादा वक्त वह मनु के पापा के करीब ही गुज़ारना चाहती। वह खाना बनाने चली जाती तो मनु के पापा बच्चों के साथ कैरम खेलने बैठ जाते।

घरेलू माहौल में नई जान ही आ गई थी जैसे।

"चार-पाँच दिन से सोच रही थी, तुमसे कहूँ, लेकिन फिर सोचा, पता नहीं, हो भी पाएगा कि नहीं।" मनु की मम्मी ने चाय पीते वक्त एक उलझा हुआ वाक्य बड़ी हिम्मत करके सरका ही तो दिया था।

"क्या है भई ?" खीझ, झुंझलाहट और घबराहट भरी परेशानी के मिले-जुले स्वर में कप मेज पर रखते हुए उन्होंने पूछा।

"आप तो देख ही रहे हैं। बच्चों को कितनी परेशानी हो जाती है। कहते तो कुछ नहीं, लेकिन मन तो उनका होता ही है, अपनी पसंद के प्रोग्राम देखने का। जब से टी.वी. खराब हुआ है, बेचारे कभी यहाँ तो कभी वहाँ जाने को पूछते रहते हैं। मैं सोच रही थी..."

मनु के पापा को खतरा अब साफ समझ आ गया था। इससे पहले कि पत्नी नए टी.वी. की बात सामने रखे, उन्होंने बीच में ही बोल पड़ना ज्यादा सही समझा, "टी.वी. खराब है तो क्या, ठीक नही करवाया जा सकता ?"

"चलो, देखते हैं।" कहकर मनु के पापा जूते उतार कर, कपड़े बदले बगैर पलंग पर पसर गए। उन्होंने छत की तरफ देखा, तो देखते ही रह गए। उन्हें लगा, जैसे वह एक बड़े टी.वी. के परदे में तब्दील हो गई है। दृश्य उस पर बस आया ही चाहते हैं। वह रोमांचित हो उठे। तभी उनके माथे पर एक कोमल स्पर्श हुआ तो वह अपने में लौट आए। यह मनु था, जो सिरहाने खड़ा होकर उनका माथा सहला रहा था।

"पापा, ओनिडा का लाना। उसका सींग वाला लड़का बहुत अच्छा लगता है।" पापा का मूड ठीक पाकर खाने की तैयारी में लगे कम बोलने वाले मोहित ने कहा।

उन्हें लगा, वह धीरे-धीरे फंसने शुरू हो गये हैं। लगता है, पत्नी ने यह जाल पूरी तैयारी के साथ बिछाया है।

"ओनिडा-फोनिडा तो खैर छोड़ो, लेकिन मामूली कंपनी का भी लिया तो पंद्रह हजार से कम का क्या आ पाएगा। और पंद्रह हजार क्या अपने पास पहले से धरे हैं कि गए और ले आए।" बेटे की बात का जवाब दिए बगैर, अपने आप में वह सोचते रहे।

बात दिमाग में कुछ घूम रही हो और आप करने कुछ और ही बैठ जाएं तो साफ पता चल जाता है। खाना सामने लगा रखा था और मनु के पापा हिसाब-किताब लगा रहे थे,

"दफ्तर की थ्रिफ्ट एंड क्रेडिट सोसायटी से पाँच-छह हजार तो मिल ही जाना चाहिए। पता नहीं कितना बचा है वहां। जब जरूरत पड़ती है, वहीं से तो निकलता है। ब्याज पर ब्याज दिए जाओ, कुछ पता ही नहीं चलता। लगता है, जैसे मुफ्त में मिल रहा है। सीधा तनख्वाह से जो कट जाता है। पहले पन्द्रह हजार मिला करता था, तो उनके खाते में पूरे पंद्रह का उधार लिखा होता था। अब पच्चीस हो गया, तो वह पच्चीस के आसपास घूमता रहता है। गनीमत है, बढ़ाकर पचास नहीं कर दिया सोसायटी वालों ने लिमिट को, वरना पचास हजार का ही उधार चढ़ जाता। पिछले महीने, जब बच्चों की दो महीने की फीस एक साथ गई तो कहां से आता इतना एमाउंट। वही से इमरजेंसी लोन लेकर चले आए। सोचा था अब कुछ महीने तक कुछ न निकालेंगे, लेकन अब यह टी.वी.....'

"अरे भई, किस सोच में डूबे हो? खाना तो शुरू करो। क्या हुआ ? तबीयत तो ठीक है न...।" पत्नी ने टोका तो उन्हें एहसास हुआ कि यह वक्त इन चीजों में उलझने का नहीं है।

"कुछ नहीं, कुछ नहीं, सब ठीक है " कहते हुए वह खाना खाने तो लगे लेकिन इस दौरान भी वह सोचते ही रहे कि कैसे बाकी का जुगाड़ किया जाए। तभी उन्हें नरेन्द्र का ख्याल हो आया।

उनके साथ पढ़ा, करीबी दोस्त था नरेंद्र। कई बार उसने यह संकेत भी किया था कि कोई दिक्कत हो तो बताना। यही नहीं, दो-एक बार तो उसने उनके एकाउंट में कैश दस-दस हजार रुपए जमा करवा कर उनसे चेक कटवा लिए थे। उनकी समझ में यह ब्लैक एंड व्हाइट का मामला आता ही न था। आता भी कहाँ से। जो कुछ महीने भर की मशक्कत के बाद मिलता, वह ऐसे काफूर हो जाता कि बचने-बचाने का सवाल ही न होता। नरेन्द्र से पूछा, तो उसने बताया था, "तेरी समझ में नहीं आने वाली ये चीजें। तू तो बस ये समझ ले कि तेरे एकाउंट में जमा होने से मेरा पैसा भी शुद्ध हो गया। शुद्ध यानी व्हाइट। मेरे पास पड़ा रहता तो ब्लैक का ब्लैक बना रहता। यही है ब्लैक एंड व्हाइट प्यारे।"

खाना खत्म कर उठे तो उनके जेहन में नरेंद्र से भी ज्यादा 'ब्लैक एंड व्हाइट' अटका रह गया। उन्होंने अपने आप से कहा—'राइट, ब्लैक एंड व्हाइट। अपन ब्लैक एंड व्हाइट टी.वी. ही लेंगे।"

खाना खाने के बाद वह टहल रहे थे। मनु और मोहित भी उनके साथ आकर टहलने लगे थे।

भीतर से किसी ने उनसे कहा—यही है राइट टाइम लल्लू। समझा दे इन्हें। ब्लैक एंड व्हाइट इज द बैस्ट चॉइस। कलर-फलर सब बकवास होता है।

बस फिर क्या था। उन्हें संज्ञान हो आया। उन्होंने बड़े बेटे को अपने करीब लेकर

उसके कंधे पर हाथ रखा और बोले, “तुझे पता है मोहित, कलर टी.वी. से ऑखें खराब हो जाती हैं। और फिर अपने कमरे भी तो इतने छोटे हैं कि हम उसे रखेंगे कहाँ। कम-से -कम दस-बारह फुट की दूरी तो टी.वी. और देखने वाले के बीच होनी ही चाहिए। ऐसा करते हैं, हम एक बढ़िया पोर्टेबल ब्लैक एंड व्हाइट ले लेते हैं। न आंखें खराब होने का डर न कमरा छोटा होने की परेशानी। क्यों ?”

“हाँ पापा, वही ले लो ! लेकिन दस तारीख से पहले। फिर अपनी इंडो-पाक सीरीज शुरू हो जाएगी। इस बार मेट्रो पर सारे मैच दिखाए जाएंगे।” मोहित को क्रिकेट ने दीवाना बना रखा है।

मनु ने भी उसका साथ दिया। “हॉ पापा, जरा जल्दी करना। मैं भी मैच देखूँगा। श्रीनाथ कितनी फास्ट बॉलिग करता है न ! तुमने देखा था उसने श्रीलंका वाले खिलाड़ी की नाक तोड़ डाली थी।”

मनु के पापा खुश थे कि वह इतनी आसानी से अपनी बात मनवाने में कामयाब हो गए। अब कम-से-कम का इंतजाम करना पड़ेगा। मनु तो बीच से चुपचाप खिसक कर मम्मी को खबर भी कर आया था कि पापा ब्लैक एंड व्हाइट ले रहे हैं।

बिस्तर ठीक करते हुए पत्नी ने कुछ टूटे हुए स्वर में पूछा, “तुम तो कहते थे कि जब यह खराब हो जाएगा तो कलर टी.वी. लेंगे। अब यह ब्लैक एंड व्हाइट कहॉ से आ गया बीच में।”

“देखो भई, कोशिश तो कलर की ही रहेगी। नरेंद्र को कल फोन करूँगा। पैसों का बंदोबस्त हो गया तो वह आ भी सकता है, लेकिन न हुआ तो बच्चों को बुरा तो नहीं लगेगा न ! और फिर मोहित तो बेसब्री से इंतजार कर रहा है टी.वी. का। उसकी वन डे सीरीज़ जो शुरू होने वाली है। मैंने उन्हें समझा दिया है...” इसी बीच मनु और मोहित भी कमरे में आ गए तो उनका स्वर कुछ धीमा पड़ गया, “बाद में देखेंगे, अगर संभव हुआ तो वह भी...”

बी.पी.एल. का वह मॉडल कितना साथ दे गया था उनका। मनु तो खैर पैदा ही न हुआ था तब, लेकिन मोहित ही तीन बरस का था जब बड़े परदे वाला टी.वी. आया था। आ ही तो गया था। कौन उसे बाकायदा खरीद कर लाया गया था। ऑफिस में न आता कंपनी का एजेंट और न रखता वह लुभावना प्रस्ताव तो क्या ऐसे आ जाने वाला था वह भला ! वह तो उसने आखिरी दांव फेंकते हुए कह जो दिया था—“सर, आपको कुछ नहीं करना है। बस, इस माडल बुक पर जो पीस पसंद हो, उस पर उंगली रख दीजिए। हम आपके एकाउंट सेक्शन को लिखकर भेज देंगे। वह फाइव हंड्रेड पर मंथ की इंस्टालमेंट हमें दे देंगे। और सर, उसके साथ-साथ यह ‘टू-इन-वन’ भी तो दे रहे हैं हम। इसकी कॉस्ट मोर दैन थ्री थाउज़ेंड फाइव हंड्रेड है, लेकिन आप इसके साथ इसे भी लेंगे तो कॉस्ट

पड़ेगी ओनली टू थाउज़ेंड। और सर आपकी सेलरी से कटने वाली इंस्टालमेंट पर कोई फर्क थोड़े ही पड़ेगा। वह तो वही रहेगी-फाइव हंड्रेड ओनली। बस मामूली-सा फर्क नंबर ऑफ इंस्टालमेंट्स में पड़ेगा।..."

कंपनी का एजेंट जाने क्या कुछ बोले जा रहा था और वह उजबक की तरह मुंह खोले, उसके सामने किसी मासूम बच्चे की तरह बैठे थे। तभी उनका कलीग चतुर्वेदी आया। उसने कंधे पर धीरे-से हाथ रखकर कहा—"टेक इट मिस्टर नाथ! और चाहें तो टू-इन-वन मैं ले लूँगा। जो कॉस्ट इसके साथ पड़ रही है, आप मुझसे कैश ले सकते हैं।"

क्या हो रहा है यह आज, उनकी समझ में कुछ भी तो नही आ रहा था। यानी बगैर पैसे दिए टी.वी. मिल रहा है। तनख्वाह से कटेगा, सो कटता रहे, बाद की बात है... और साथ में टू-इन-वन के दो हजार, यह चतुर्वेदी मुझे अभी दे देगा। वाह, क्या बात है। यानी एक तीर से दो शिकार हो रहे हैं, वह भी खुद-ब-खुद।

उन्होंने एजेंट के कागज़ों पर तुरत-फुरत दस्तखत कर डाले थे।

हफ्ते-भर के भीतर ही, एक दिन जब वह शाम को घर लौटे तो रंगत ही कुछ और थी। कमरे के एक कोने पर बाकायदा जगह बनाकर, मेज़ लगा दी गई थी। नई चादर को मोड़ मेज़पोश बना, मेज़ पर बिछाकर उस पर टी.वी. सजा दिया गया था। फिल्मी गानों का कोई कार्यक्रम चल रहा था और दूसरे दिनों की तरह, किसी को उनके आने की खास परवाह नही थी। मोहित और उसके दोस्तों की फौज आंखें गड़ाए बैठी थी। पत्नी ज़रूर रोज़मर्रा की तरह पानी का गिलास लेकर आत्मीयता से उन्हें निहारते हुए कुछ और करीब आकर बोली थीं, "अच्छा है न! और ये टू-इन-वन का तो हमें बताया ही नही। बड़े तेज हो जी तुम!"

उन्होंने तुरंत मामला संभाल लिया था। "देखो, ये हमारा नही है। चतुर्वेदी ने मेरे नाम से खरीदा है। कल दे आऊँगा। अपना तो सिर्फ ये टी.वी. है।"

चमक जैसे अचानक गायब हो गई थी। पत्नी ने उन्हें एक बेचारगी भरी नजर से देखा था और फिर भीतर की तरफ चली गई थी।

तब से आज तक कितने बरस बीत गए। टी.वी. ही था, जिसने इस सबकी याद दुबारा से करवाई।

नरेंद्र से बात कर मनु के पापा कुछ निराश जरूर हुए, लेकिन उम्मीद की एक किरन अभी बाकी रह गई थी। वह जल्द ही एक बड़ा कलर टी.वी. लेने वाला था, जिसके साथ एक बच्चा कलर टी.वी. फ्री मिलने की बात थी। नरेंद्र का कहना था, "बस, मैं अपने नए फ्लैट में शिफ्ट कर लूँ, फिर तू मेरा टी.वी. आते ही उसका बच्चा उठा ले जाना।"

उन्हें लगा जैसे नरेंद्र के लिए अपने नए फ्लैट में जाना ज्यादा महत्वपूर्ण है और टी.वी. का आना दोयम दर्जे का मामला। बहरहाल, वह कुछ-कुछ टूटे और दरके से मुस्तफा के

पास पहुँचे थे। उसका बड़ा बेटा बाप के धंधे में हाथ बंटाने के बाद बाकी बचे समय में टी.वी. सुधारने का काम करने लगा था। उसी ने उन्हें राय दी थी "अंकल जी, मार्किट में तो आपको अच्छा पोर्टेबल ब्लैक एंड व्हाइट मिलेगा ढाई-तीन के आसपास। लेकिन आप चाहो तो मैं असेंबल करके बढ़िया पीस तैयार कर दूँगा। पैसे भी आपको एक साथ नहीं देने पड़ेंगे।"

उन्हें लगा, यही ठीक है, "तो कब तक बन जाएगा ? वन डे सीरीज़ शुरू होने से पहले तैयार कर दोगे यार ?"

"आप एकदम निसारवातिर रहें। यह मेरी जिम्मेदारी रही। जब आपका मन हो, पांच-छह सौ रुपए दे जाना, मैं काम शुरू कर दूँगा।" एक तरह से उसने यह संकेत कर दिया था कि एडवांस की पहली किस्त मिलने पर ही वह इस काम में हाथ लगाएगा।

उन्होंने तय कर लिया कि नरेंद्र के मुफ्त में मिलने वाले बच्चा कलर टी.वी. की जगह अपना यही ब्लैक एंड व्हाइट बेहतर है। दूसरे ही दिन, दफ्तर से लौटते वक्त वह उसे पॉच सौ रुपए देते आए थे।

जैसे-जैसे काम होता गया, मनु के पापा मुस्तफा के बेटे को कुछ-न-कुछ देते रहे। चार-पांच दिन में टी.वी. तैयार हो गया। छोटा-सा, प्यारा और एकदम माडर्न लुक देने वाला यह टी.वी. लगता ही न था कि अपने ही इलाके में असेंबल किया गया है। कुल जमा उन्नीस सौ रुपए में तैयार होकर टी.वी. घर आ गया था। इतने सस्ते में काम हो जाने की खुशी में मनु के पापा ने मुस्तफा के बेटे को सौ रुपए अपनी तरफ से और दे दिए।

पल भर में पुराना टी.वी. ज़मीन पर आ गया था और उसकी जगह नए ने हथिया ली थी। मोहित बहुत खुश था कि सीरीज़ शुरू होने से ऐन एक दिन पहले टी.वी. घर आ गया था। मनु तो मैट्रो लगाकर प्रोग्राम देखने ही बैठं गया।

इधर नई समस्या यह आ खड़ी हुई कि पुराना टी.वी. रखा कहाँ जाए! कोई जगह ठीक-ठाक न दिखी तो उन्हें लगा मुस्तफा का लड़का ठीक ही कह रहा था—"अंकल, इसे आप मेरे पास भिजवा दो, मैं ग्राहक देखकर निकलवा दूंगा। दो-ढाई सौ तो मिल ही जाएंगे।"

उस वक्त जाने क्या लाड़ आ गया था अपने टी.वी. पर कि उन्होंने उसकी बात को टाल ही दिया था, "इससे अच्छा तो हम किसी को यूं ही न दे देंगे।"

फौरी तौर पर पुराना टी.वी. पलंग की बगल में कुछ इस तरह पीछे की तरफ रख दिया गया कि किसी को नज़र भी न आए और आते-जाते उस पर ठोकर भी न लगे।

बच्चे धीरे-धीरे नये टी.वी. में रमने लगे थे लेकिन मनु की मम्मी को जाने क्या था कि वह झाड़ते-बुहारते वक्त बाकायदा पुराने टी.वी. का खास ख्याल रखती।

बच्चे उसकी इस अदा का दबे स्वर में मज़ाक भी उड़ाते पाए गए लेकिन खुल्लम-खुल्ला कुछ कह सकने की हिम्मत किसी में न थी।

मनु के पापा ने देखा कि टी.वी. ने बच्चों को बांध ही लिया है तो फिर वह निश्चिंत होकर चुपके से अपनी पुरानी आदत पर उतर आए। दफ्तर से लौटकर सीधे घर पहुँचने की बजाय वह अब पहले की तरह घूमते-घामते, दोस्तों से मिलते-मिलाते घर लौटते। एकाउंट्स में उनकी जानकारी का फायदा उठाने वाले दोस्त उनकी खूब आव-भगत करते और लगे हाथ अपने कुछ कागज-पत्तर भी ठीक करवा लेते। खुशी-खुशी उन्ही के यहाँ से बच्चों के लिए बंधवाया गया कुछ-न-कुछ लेकर घर लौटते तो घड़ी नौ-साढ़े-नौ का कांटा पार कर चुकी होती।

घर से वह दूर खुद रहना चाहते हों, ऐसा नहीं था। बस, उन्हें इस बात से सख्त चिढ़ थी कि हरदम यह डिब्बा गाता-बजाता ही रहे या फिर ऊल-जलूल विज्ञापन दिखाकर बच्चों का दिमाग खराब करता रहे। कुछ देर. घर लौटकर शांतिपूर्ण माहौल न मिले तो उनकी खोपड़ी घूमने लगती थी।

उस रोज़ भी जब वह हरदयाल की दुकान से उठकर करीब पौने दस बजे घर पहुंचे तो बच्चे खाना खाने बैठे हुए थे। पत्नी की हिदायत के मुताबिक टी.वी. चल नही रहा था। उसका मानना था कि खाते वक्त टी.वी. चलता रहे तो बच्चे भरपेट खाना नही खाते। पलंग के ठीक सामने रखे तख्त पर बैठकर वह जूते उतारने लगे। जूते उतारकर जैसे ही उन्होंने पत्नी से लेकर पानी का गिलास अपने हाथ में थामा, उनकी नजर पलंग की बगल में ठीक उस जगह अटक गई जहाँ पुराना टी.वी. रखा रहा करता था। खाली पड़ी जगह देख उनके भीतर अजीब-सी उदासी भरने लगी।

"क्यों, अपना बी.पी.एल. कहाँ चला गया ?" उन्होंने व्यग्र होकर पूछा।

"जब से गया है, सच्ची बताऊँ, मुझे भी बड़ा खाली-खाली-सा लग रहा है... जैसे कोई अपना खास बिछुड़ गया हमसे। अब क्या बताऊँ, वह मुस्तफा का लड़का रोजीना आकर पूछता था—'आंटी जी, ले जाऊं पुराना टी.वी.।' मैं भी चार-पाँच कबाड़ियों से पूछ ही चुकी थी... कोई भी सौ-डेढ़ सौ से ऊपर देने को तैयार नही था। पड़े-पड़े धूल ही तो जम रही थी उस पर। दो सौ रुपए दे गया है। कहता था—ठीक-ठाक निकला तो पचास और दे जाएगा।

पत्नी की बात सुनकर उन्हें लगा, किया तो ठीक है उसने, लेकिन...इतने बरसों से जिसे देखते रहने की आदत जो पड़ गई थी...खराब पड़ा-पड़ा भी कितना प्यारा लगता था। कैसा समय आ गया है ये, चीज़ खराब हो जाए तो ठीक नहीं हो सकती। देखते-देखते कबाड़ में तब्दील हो जाती है। उन्हें लगा, उनके भीतर कुछ पसीज रहा था जैसे। जूते उठाकर वह पलंग की बगल में उसी जगह के पास जा पहुँचे। वहाँ धूल ने टी.वी. के आकार का

आयताकार फ्रेम बना रखा था। जूते रखते-रखते वह ठिठक गए। उन्हें लगा, कहीं वह फ्रेम गड़बड़ा न जाए। तभी वह एक अचानक हुई आवाज़ से चौंक उठे। बच्चों ने टी.वी. ऑन कर दिया था। 'आज तक' शुरू हो चुका था। उन्होंने पाया वह भी स्वचालित से पालथी मारकर बैठ गए थे। बच्चे यह सोचकर चुप थे कि पापा जब खबरें सुनते हैं तो उन्हें किसी का बातचीत करना पसंद नहीं। □

चीजें

तरसेम गुजराल

मृणाल को पटियाला के उस छोटे-से मकान में गुजारे दिन बहुत भले लगते थे। तब उसके पति की पदोन्नति नहीं हुई थी। पैसों से कई बार हाथ तंग भी रहता था। दोनों बच्चों की बीमारी, मकान का किराया और राशन, दूध का बिल देकर कुछ ऐसा न बच पाता जिस पर वह मनमानी की शापिंग का लुत्फ उठा पाती। चीजों की उसकी एक सूची थी। अच्छी सी सिल्क की साड़ी, घर के लिए नये पर्दे, वाशिंग मशीन और दो गजरों में पहनने के लिए चार चूड़ियाँ बनाने की बात सोचती... अभाव थे परन्तु अभावों के साथ आश्वस्ति।

बरामदे की बित्ता भर धूप में मृणाल ईजी चेयर में थी। पीठ चेयर की बैक से सटी हुई। बायी कुहनी आर्म पर और हथेली पर टिका हुआ चेहरा। आंखें बंद। वह किताब, जिसमें मन लगाने की कोशिश कर रही थी, बेमतलब गोद में पड़ी थी।

उस दिन बलदेव यही किताब पढ़ रहा था और मृणाल झाड़-पोंछ का काम कर रही थी। तभी उसने कहा था—"कितना अजीब लगता है बलदेव, यह एक कांच की सुराही है, इसमें मैं कभी पानी नहीं पीऊंगी। एक दिन सफाई करते-करते यह मेरे या बंती के हाथ से यह फिसल जायेगी और चीना-चीना हो जाएगी।"

"कैसी बातें करती हो भाभी?"

झाड़न रखकर वह सामने बैठ गई।

"एक बार, पहाड़ में एक नदी थी। वेगवती। कल-कल करती बहती निनादनी। लोग उसे सीधा पार करने से डरते थे। जाने कब बहाव इतना तेज हो कि बहाकर ले जाये... फिर न जाने कैसे वह नदी सूख गई। लोगों ने उसमें से रास्ते निकाल लिए। औरतें मिट्टी खोद-खोद कर ले जाने लगीं। लड़के उसमें क्रिकेट खेलने लगे।"

"भाभी, मैं समझा नही। मुझे लग रहा था कि तुम आजकल बहुत सुखी हो?"

"सुख? हूँ ह।"

मृणाल ने नीचे वाला ओंठ काट लिया। शब्द काटना चाहती थी। कटा नही। निकल गया। दाँत के नीचे आ गया ओंठ।

तब बलदेव को कुछ पैसों की जरूरत थी। भाई टूअर पर थे। कोई मीटिग थी चण्डीगढ़ में।

"भाई कब तक आयेंगे भाभी?" नाश्ते की मेज पर बलदेव ने पूछा।"

"आजकल उनके बारे में इस घर में कोई कुछ नही बता सकता, कोई खास काम है?"

"कुछ पैसों की जरूरत थी।"

"कितने ?"

"इतनी-सी बात के लिए उनकी प्रतीक्षा की कोई जरूरत नही।"

चाय वही छोड़ वह उठी और पचास के नोटों की एक गड्डी लाकर उसके हाथों में दे दी।

बलदेव को जाने की जल्दी थी। ज्यादा गहराई में जाने की न फुर्सत थी न आकुल जिज्ञासा। एक पर्त-सी जमी रही। सुनी बातों के अर्थों की व्यापक तलाश भी हुई तो सफर से लौटकर जाते हुए। सोचा 'अगले चक्कर में बैठकर विस्तार से बात करूँगा।'

"बंती ने आकर काफी का मग दे दिया।"

एक घूंट बेख्याली में ही भरा फिर बंती को आवाज दी।

"बंती मुझे इस वक्त चाय ही दिया करो।" फिर ख्याल आया कि बंती को खुद काफी अच्छी लगती होगी तब कहा, "तुम अपने लिए चाहो तो काफी बना लिया करो।"

"क्यों बीबी जी?"

"मैं पहले वाले रंग में लौट जाना चाहती हूँ।"

"मैं समझी नहीं बीबी जी।"

"मुझे जब कोई भी नहीं समझ रहा तो तुम क्यों समझ लोगी... इस साल चालीस की हो जाऊंगी।"

बंती को समझ नही आया कि मालकिन इस तरह की बातें क्यों करती हैं। चालीस

की उम्र कोई साठ की नहीं होती।

मृणाल के यहाँ आने से पहले बंती इसी कोठी में काम कर रही है। उसे वह अच्छी इसलिए लगी कि अफसरों की बीवियों का अभिमान, नखरा, ऊँचाई उसे छू नहीं गई थी। अपने लिए डांट-फटकार का एक लफ्ज भी उसने उनसे नहीं सुना था। पहले-पहल बात बेबात पर हँसती थीं। इस तरह चुप्पी मारकर बैठे रहना उसने पहली बार देखा है। एक-दो बार तो छुप-छुप कर रोते हुए भी देखा है।

पहले जो रजनी मेम साब थीं, उन्हें देखकर लगता ही नहीं था कि उन्हें कभी कोई दुःख होगा। कभी बंती छुट्टी कर लेती और कह देती कि मैं इसलिए नहीं आ सकी क्योंकि बीमार थी, तो कहती,—"तुम लोग रोज बीमार ही रहता ?"

बंती को उसके तेवर देखकर लगता कि कभी कोई परेशानी उसे छू नही पायेगी, वह कभी बीमार नही पड़ेगी, कभी उसके किसी निकट के मित्र-रिश्तेदार की मृत्यु नही होगी, न वह कभी खुद मरेगी.........परन्तु एक केस में फंसकर पहले बौखलायी-सी घूमती रही, फोन करती रही परन्तु हफ्ते भर में उसकी ट्रांसफर हो गयी। सिफारिशों, नोटों के पुलिन्दों से रुकी नही तो उसका बोरिया-बिस्तर बांधते हुए बंती को बहुत खुशी हुई। जैसे सामान ट्रक में लदने का दिन, उसकी आजादी का दिन हो। परन्तु मृणाल बीवी के बारे में सोचकर उसे लगता, जब उसका होल्डाल बाँधेगी तो आंसुओं से लैदर-बैल्ट तर हो जायेगी।

बदलेव को उन पैसों से टैक्स का जुर्माना अदा करना था। कर दिया। इस परेशानी से उबरा तो भाभी के दर्द का कपास भीतर घुनने लगा। दिन में दो-तीन बार याद आया परन्तु न तो रुटीन के कामों से फुर्सत मिली न डबल पैसों से फोन करने की हिम्मत हुई। रात के भोजन के बाद घूमने निकला तो पी.सी.ओ. में घुस गया। फोन मृणाल ने ही उठाया।

"हलो।"

"भाभी, मैं बलदेव।"

"हॉं कैसे हो ?"

"मैं ठीक हूँ। भाई से बात करवायें।"

"वह अभी घर नही आये।"

बलदेव ने सामने शंकर जी की तस्वीर के ऊपर घड़ी देखी। पौने ग्यारह बज रहे थे। रात आधी होने के वृत में थी।

"पौने ग्यारह बज रहे हैं भाभी।"

"हाँ।"

"क्या उन्हें कही बाहर जाना था ?"

"नहीं ! मुझे कोई सूचना नहीं दी उन्होंने ?"

"क्या रोज लेट आने लगे हैं ?"

"हाँ, एकाध बार तो आये ही नहीं । मैं पूरी रात पागलों की तरह फोन करती रही । भागती रही, इधर-उधर... और बीमार पड़ गई ।"

"आप रो रही हो ?"

"नहीं, नहीं तो ।"

"इसकी कोई वजह... ?"

"हलो, हलो, मैं आऊँगा किसी दिन ।"

"परन्तु लाइन कट गई थी ।"

मृणाल ने अपने आपको बहुत कमजोर पाया । ओंठ झूठे लगने लगे । सच कह देने के बाद । कितनी जल्दी उगल गई वह सभी कुछ । फोन पर रो देना तो अपने आप को बहुत हल्का-सा लगा । बदलेव क्या सोचेगा ? बलदेव अगर इनसे बात करेगा तो इन्हें बहुत बुरा लगेगा । फिर मन में कहा, होने दो बात । जहॉ आग जलेगी, वहॉ धुऑ भी उठेगा । वह धुआं आग लगाने वाले की आंखों से पानी निकाले तो किसी का दोष नहीं ।

मृणाल को पटियाला के उस छोटे-से मकान में गुजारे दिन बहुत भले लगते थे तब उसके पति की पदोन्नति नहीं हुई थी । पैसों से कई बार हाथ तंग भी रहता था । दोनों बच्चों की बीमारी, मकान का किराया और राशन, दूध का बिल देकर कुछ ऐसा न बच पाता, जिस पर वह मनमानी शापिग का लुत्फ उठा पाती । चीजों की उसकी एक सूची थी । अच्छी सी सिल्क की साड़ी, घर के लिए नए पर्दे, वाशिग मशीन और कभी दो गजरों में पहनने के लिए चार चूड़ियां बनवाने की बात सोचती । अभाव थे परन्तु अभावों के साथ थी आश्वस्ति । हरीश का विश्वास और प्रेम ।

बलदेव जब पैसे लेने आया था, तब उससे कहा था—"पीछे मुड़कर देखती हूँ तो मुझे पटियाला के दिन बहुत भले लगते हैं ।"

बलदेव ने जवाब दिया—"पीछे मुड़कर देखना आसान होता है भाभी । आगे देखना मुश्किल । पीछे का वक्त गुजर चुका होता है, उसमें कोई खतरा नहीं होता । परन्तु उसे ओढ़ कर, बिछा कर जीया नहीं जाता ।"

उसे पता था कि पदोन्नति के बाद कई बार कुछ बदलाव आते हैं परन्तु हरीश इतना बदल जायेगा, उसे उम्मीद न थी । वह इतना ही समझती थी कि काम कुछ बढ़ जायेगा, दायित्व बढ़ जायेगा, व्यस्त कुछ ज्यादा रहेगा तो उसकी तरफ इतनी तवज्जो नहीं देगा । परन्तु जो हरीश आज उसके सामने है, इसकी उसने कल्पना भी नही की थी । चीजें इतनी जल्दी बदल जायेंगी, वह सोच भी नही सकती थी ।

जब बलदेव का फोन आया, वह उस कम्बल में थी जो उसने विदेशी सामान बेचने वाली दुकान से पाँच हजार का खरीदा था। मृणाल ने उस समय गाउन पहना हुआ था, जो उसे बड़ा अरामदायक लगता था, इसका उपयोग वह पहले नहीं करती थी। पहले कभी घर पहनने की चप्पल पचास रुपए से ज्यादा की नहीं होती थी। अब पाँच सौ पचास की थी। पहले हफ्ते में एक-दो बार ही फल आता था, अब फ्रिज भरा पड़ा रहता है।

यहाँ आकर हरीश ने जब पहली बार खरीददारी के लिए तनख्वाह के अतिरिक्त दस हजार रुपये की गड्डी थमा दी तो मृणाल थोड़ा चकरायी जरूर।

वह खुले दिल से खरीददारी करती रही परन्तु एक खटका-सा लगा रहा। उसने हरीश से कहा—"कहीं हम लोग किसी मुश्किल में न पड़ जायें।"

जवाब मिला—"तुम हिन्दुस्तानी औरतों को मजे से जीना नही आता।"

दीपावली पर उनके यहाँ बहुत से लोग उपहार देने आये। इस बार दीवाली की मिठाई खाते हुए अन्दर से स्वाद मिठाई में नही घुल रहा था। उसने पिकी से कहा—"ऐसा लगता है, जैसे जहर खा रही हूँ।" डिब्बे संख्या में भी बहुत थे। तीन डिब्बे उठाकर सीधे बंती को दे दिये। बंती का चेहरा खिल गया। परन्तु मृणाल का बुझ गया। पिता जी कहा करते थे—"चोरों का माल, लाठियों का गज।"

अवसर पाकर उसने हरीश से कहा—"पिताजी कहा करते थे, जो पैसा आपने अपनी मेहनत से नहीं कमाया, आपको फालतू का मिल रहा है, वह जीवन में कभी भी परेशान कर सकता है।"

मृणाल के पिता जी पुलिस में थे और ऐसे बदनाम महकमे में नौकरी करते हुए उन्होंने कभी किसी से कानी-कौड़ी नही ली थी।

हरीश का जवाब था—"तुम्हारे इन विचारों के चेहरे पर बुढ़ापे की झुर्रियाँ नजर आती हैं।...आजकल इस आउटडेटेड उसूल को कोई नही पूछता।...पटियाला में क्या था हमारे पास, एक सोफा ठीक करवाने में हमें आठ महीने इंतजार करना पड़ा था।"

"पूछते हो क्या था हमारे पास? हमारे पास थी मन की शान्ति।"

"बकवास है सब। तुम्हारी शान्ति को अब कौन-सा फिट पड़ गया। भागदौड़, परेशानी, चिंता साली मेरी होती है।"

"वही तो कह रही हूँ। आप क्यों कर रहे हो इतनी भागदौड़ ?"

"पिंकी के लिए। राजू के लिए।"

"जानते हो कल पिंकी क्या क़ह रही थी?"

"क्या कह रही थी"।

"कह रही थी, यहाँ आकर पापा के पास हमें घुमाने का समय भी नहीं रहता।"

"यह काम तुम कर लिया करो न।...बलदेव को बुला लिया करो।"

"जो बात आपके साथ हो सकती है, वह किसी और के साथ कैसे हो सकती है भला ?"

हरीश निकल भागने के लिए तैयार खड़ा था। मृणाल ने हाथ पकड़ कर सोफे पर बिठा लिया।

"जरा बैठिए न। परसों राजू के स्कूल में पेरेंट्स डे है।"

"तुम हो आना।"

"दोनों को नए जूते और यूनिफॉर्म चाहिए।"

"मैप्पी को फोन कर गाड़ी मंगवा लेना और मार्कीट हो आना।"

"मिक्सी काम नहीं कर रही। राजू को मैच देखना होता है। टी.वी. साफ नही आता।"

"फोन करके गुरिन्दर को बोल देना। वह दोनों ठीक करवा देगा।"

"आप कुछ नहीं करोगे। कहीं साथ नहीं जाओगे ?"

"तुम्हें पता नहीं, मैं किन-किन मुसीबतों में फंसा हूँ।"

मृणाल कुछ कहना चाहती थी परन्तु हरीश उठकर चला गया।

पहले किसी ब्याह-शादी या किसी खास अवसर पर ही पीता था। अब पीना और पीकर लौटना एक रुटीन का काम बन गया था। आमतौर पर बाहर से ही पँख कटे परिन्दे की तरह झूलता हुआ आता था। कमी रह जाती तो घर में पड़ी बोतल निकल आती। इस स्टॉक में वह कभी कमी न आने देता।

मृणाल ने एक बार फिर हालात के असह्य होते चले जाने पर संवाद स्थापित करने की चेष्टा की। कुछ दिनों से उसे लग रहा था कि वह अपने अन्दर की सांय-सांय, आशंकाओं और उद्वेग से उकता चुकी है। उसने हरीश को रोंककर कहा-

"सुनो हरीश, अब क्या मेरे जीवन में कुछ नही होगा ?"

"क्या चाहती हो तुम ?"

"तुम्हारे पास सुनने का वक्त है ?"

"क्या कमी है तुम्हें ?"

"बस तुम्हारी।"

"मैंने तुम्हें सभी कुछ दिया। तुम्हारा पर्स नोटों से भरा रहता है... दो बच्चे हैं। प्लाट भी ले लिया है। छह महीने में कोठी भी बन जायेगी... और क्या चाहिए ?"

"मैंने कभी कोठी की मांग नहीं की। ..... बच्चे भी... ।"

"ओह, शटअप दैट नानसेंस।...देखो तुम किसी किट्टी में शामिल हो जाओ। विडो

शापिंग किया करो ।... और बन रही कोठी की इन्सपैक्शन । न हो, तो कुछ दिनों के लिए बलदेव को बुला लो ।...तुम्हारा दिल बहल जायेगा ।"

मृणाल ने सुझावों की इस लड़ी का कोई जवाब नहीं दिया । एकटक हरीश का चेहरा देखती रही । इधर आंखों के नीचे का मांस लटकने लगा था । ओंठ सूखे लग रहे थे । चेहरा उलझन की रेखाओं से भरा था ।

धूप कब की जा चुकी थी । बंती दुशाला लेकर आ गई । लाकर टांगों पर डाल दिया । मृणाल ने आंखें खोली ।

"जा रही हो ?"

"हॉं । आपके लिए चाय बना दूं ?"

"बना दो ।"

"सिर दर्द हो रहा है ?"

"नहीं, हॉं... ।"

"साहब को फोन करूँ ?"

"क्या फायदा ?"

"गोली दूँ ?"

"नही, रहने दो ।"

"राजू नहीं आया अभी ?"

"मैच था न , रावत के यहॉं रहेगा ।"

"आपका बिस्तर लगा दूं ?"

"लगा दो ।"

"आप तो बहुत घबरा गई हो । सुना है, हिम्मत रखने से किस्मत का सहारा भी मजबूत हो जाता है । ...धीरज रखें ।"

"तब तक बहुत देर हो जायेगी बंती ।"

बलदेव यात्रा में भाभी के बारे में सोचता रहा । वह अपने को भाभी और भाभी को अपने बहुत करीब समझता था । वह दुनिया में केवल उसी से मन की बात कह सकता था । इस समय उसके भीतर सन्देह की सीली तीली थी । न ठीक से जलती थी, न उजाला देती थी ।

फोन पर भाभी रो रही थी । ...क्यों वह अपने को पहले पहाड़ी नदी और सूखी नदी में रूपायित कर रही थी ?..भाई के पास बहुत काम है या .. ? दोनों के बीच ऐसा क्या है ? भाभी तो समझदार है, पारदर्शी भी, फिर ? उस जैसी सुन्दर महिला की कोई कैसे उपेक्षा कर सकता है ?

यात्रा पर निकलने से पहले उसने स्टेशन के स्टाल से एक पत्रिका खरीदी थी। रास्ते में कुछ भी नहीं पढ़ पाया था। जितनी बार खोलता, चित्र देखकर बंद कर देता। निगाह उड़ती रही। मृणाल के आँसू भरे चेहरे के सिवा कुछ नजर न आता।

जब पहुँचा, वह सो रही थी। उनके कमरे में जीरो वाट का बल्ब जल रहा था। पिंकी अपने कमरे में चार्ट बना रही थी।

आहट सुनकर भागी चली आई—"ओह आप अंकल, मैं समझी पापा आ गये ! आप कब आये ?"

"अभी।"

"चाय बनाऊँ ?"

"नहीं, अभी जरूरत नहीं। जरा रुककर लूँगा।"

"भाई अभी नहीं आये ?"

"नही, रोज देर से आते हैं। शायद काम बहुत रहता है। बलदेव पिकी की समझदारी पर हैरान रह गया।"

"भाभी बीमार है क्या ?"

"रोज हैडेक कहती हैं। डाक्टर को काल करें तो नराज होती हैं। आप समझाइए इन्हें।"

पिंकी जाकर अपने काम में डूब गई।

मृणाल के पैर कम्बल के बाहर थे। बलदेव का जी चाहा कि चूम ले। उसने दोनों पर हाथ रख दिये। पैरों पर हाथ का स्पर्श होते ही मृणाल जाग गई।

"मैं इस लायक नही बलदेव।"

"आप किस लायक हो, यह मेरा दिल ही जानता है।"

"कब आये ?'

"पन्द्रह-बीस मिनट पहले।''

"तबियत ?"

"ठीक है ! .... अब तुम आ गये हो तो.... ।"

"डूबते को तिनके का सहारा।"

"मृणाल चाय बनाने गई। बदलेव रसोई में ही आ गया।"

"कमजोर लग रही हो।'

"मानव बम का जमाना है भाई।" मृणाल ने हँस कर कहा।

"हम तेज बरसते आसमान के विरुद्ध छाता खोलने वाले हैं।"

"पिंकी को चाय दे आऊँ ?" चाय बन जाने पर बलदेव ने पूछा।

"वह नहीं लेगी।"

बलदेव लॉबी में मूढ़े पर बैठ गया।

"यहाँ ठंड है। कमरे में आ जाओ।"

वह ट्रे उठाकर बैडरुम में आ गई।

"क्या बात है ? इतनी परेशान क्यों हो ?"

"इस घर को टूटने से अब कोई नहीं बचा सकता।" मृणाल ने रुलाई मुश्किल से गटक ली।

"आखिर हुआ क्या ?"

"गुब्बारा फूलने की एक हद होती है। उसके बाद वह फट जाता है। वह नौबत आ गई समझो।"

"यहाँ सब अच्छा-भला तो था।"

"खाक अच्छा-भला था। अच्छा-भला रह गया पटियाला।" उसने माथे पर चूनर की पट्टी बॉध ली और कहा।

"पिछले कुछ दिनों से परेशान से रहने लगे। पहले मैंने दखल नहीं दिया। जब देखा कि बच्चों से भी सीधे मुँह बात नहीं करते, तब कहना पड़ा। वह यही लेटे हुए थे। मैंने पूछा,

"दफ्तर में कोई परेशानी है क्या ?"

"नही, कुछ खास नहीं।"

"कुछ तो है जो इस तरह उड़े-उड़े रहते हो। न घर समय पर आते हो, न ठीक से कुछ खाते हो। आते हो तो घोड़े पर सवार, जैसे खुद चलने की ताकत ही न हो।"

कहने लगे, "दफ्तर की कई मुसीबतें होती हैं।"

"कही आपसे कोई घपला तो नही हो गया ?" मैंने इसलिए पूछा कि पूरा अखबार आजकल घपलों, जालसाजियों से भरा होता है। देश और देश के लोगों की वास्तविक समस्याओं की बात तो दूर छूट गई।

"भाई ने क्या कहा ?

"कुछ नहीं। मुँह दूसरी तरफ कर लिया, मैंने कहा—यदि ऐसा कुछ हो गया है तो आप आगे से तौबा कर लो। हम आपके साथ हैं। पूरी जंग आपके साथ लड़ेंगे। धूप-छॉव सब सहेंगे। प्लाट बेच देंगे। मुझे तो रहने के लिए दो कमरे ही बहुत हैं... इतनी चीजों की जरूरत भी नहीं।"

जवाब मिला—"वक्त आने पर बताऊँगा...।"

"कुछ बताया ?"

"बताना क्या था... जिस दिन रात भर घर नही आये, बंती मेरा ज्यादा ख्याल रखने लगी। कई बार रात को यहीं ठहर जाती क्योंकि देर से आना इनका रोज का काम हो गया था.... इनके आ जाने पर बाहर आउट हाऊस में जाकर सो जाती। एक दिन उसने डरते-डरते और बड़े संकोच के साथ बताया, रात को जो गाड़ी घर छोड़ने आई थी, उसमें एक औरत थी।"

"मैंने कोई नोटिस नहीं लिया। सोचा कि आदमी का कार्य क्षेत्र बड़ा होता है। दसियों लोगों से बीस तरह के सम्बन्ध। मुझे क्या जरूरत है दखल देने की।"

"मुझे मिसेज नरूला सब्जी मण्डी में मिल गई। अर्थपूर्ण ढंग से मुस्करा कर कहा—"क्या आपकी बहन आई हुई है आजकल ?" मैंने कहा, "नही तो।"

"तब मिस्टर हरीश के साथ फ्रेण्डज थियेटर में वह महिला कौन थी ?"

झेंपते हुए मैंने कहा—"होगी कोई इनकी कुलीग।"

"माफ करना मृणाल जी, कुलीग के साथ कोई इतना फ्री नही होता।"

सफेद कमीज पर लिपस्टिक के दाग मुझे बंती ने दिखा दिये थे।

मैं अभी कुछ पूछ पाती इससे पहले ही एक दिन ये महाशय एक दिन उसे लेकर घर चले आये।

आकर ड्राईग रूम में बैठ गये। मुझे इट्रोड्यूस तक नही करवाया। शिष्टाचार वश मै पानी दे आई। दोनों में से किसी ने नहीं पीया। थोड़ी देर बाद चाय बना कर दे आई। प्यालों पर पपड़ी जमती रही, किसी ने छुआ तक नहीं।

बर्तन उठाने गई तो वह सोफे पर पसरी हुई थी। ये महाशय सिगरेट के धुँए के छल्ले छोड़ रहे थे।

रात के साढ़े ग्यारह बज रहे थे। भोजन के लिए पूछा तो खुश्क-सा जवाब मिला—नहीं खायेंगे।

साढ़े बारह बजे वह गई। यह छोड़ने गये तो घण्टे बाद लौटे। उसके साथ इनकी बातें खत्म ही नही होती।

बिस्तर में आये तो मैंने पूछा—"यही है आपकी मुसीबत ?" बोले, "हाँ।"

"इससे इतना डरते क्यों हो ?"

कोई जवाब नहीं।

मैंने पूछा—"क्या आपके कुछ जरूरी कागजात इसके पास हैं ?"

आधे घण्टे बाद बोल फूटा—"नहीं तस्वीरें।"

"कैसी तस्वीरें ?"

"मेरी और उसकी।"

"एक ही बिस्तर में ?"

"हॉं।"

थोड़ी देर मृणाल और बलदेव दोनों चुप रहे। सुनाने वाले की वाणी कांप रही थी और सुनने वाले की ऑंखों की पुतलियाँ।

थोड़ी देर बाद बलदेव ने ही पूछा—"इतने दिनों में आपके साथ सम्बन्ध कैसा रहा?"

"मैंने सब बता तो दिया।"

"आई मीन आपने या उन्होंने प्रेम सम्बन्धों से एक-दूसरे को पाने की कोई चेष्टा की या नहीं ?"

"एक रात बहुत बारिश हुई। यह बुरी तरह भीगकर आये। मैंने दूसरे कपड़े दिये, तौलिया दिया और जाकर लेट गई। यह टावल से शरीर पोंछते हुए मेरे कम्बल में आ गये। मैंने धकेल दिया कहा—किसी की जूठन मैं नही उठाऊंगी।"

नाश्ते के समय बलदेव ने हरीश से बात करने की कोशिश की। कहा—"भाभी बहुत परेशान हैं आपके अनैतिक प्रेम सम्बन्धों को लेकर।"

हरीश ने तिलमिलाकर जवाब दिया—"मेरा उसका आपसी मामला है। किसी को दखल देने की जरूरत नही।"

बलदेव उसी समय नाश्ता छोड़कर बैग उठाकर चला गया। मृणाल ने कहा भी कि इस तरह अपमान करने का उसे कोई अधिकार नही, परन्तु वह भड़क उठा और कहा—"आई डैम केयर।"

जब दुबारा हरीश उसी औरत को लेकर घर आया तो मृणाल ने आवाज दी—"रुक जाइए। इसे अन्दर लाने की जरूरत नही। पहले यह घर में आई थी एक अतिथि की तरह। मैंने आदर से आने दिया। चाय-पानी से स्वागत भी किया। नागिन के रिश्ते से यह मेरे घर नही आ सकती। होटल में रहे, सिनेमा घर में गुलछर्रे उड़ाये लेकिन इस घर में हर्गिज नहीं।"

हरीश ने मृणाल को इस रूप में कभी नही देखा था। बिखरे बाल। ऑंखों में चिगारियॉं और चमकता ललाट।

"तुम पागल हो गई हो। रात का वक्त है। लोग सुन रहे हैं।"

"मुझे न रात की परवाह है, न लोगों की।"

"तमाशा मत बनाओ। हटो।" हरीश ने उसे धकेल दिया।

बिजली की गति से मृणाल अंदर भागी। हरीश को याद आया कि रूम की अलमारी में रिवाल्वर है। वह भी भागकर पीछे आया। मृणाल बैग में कपड़े ठूँस रही थी।

"कहाँ जा रही हो ? बलदेव के पास ?"

"इस तरह चबा-चबा कर बोलने की जरूरत नहीं। अपने बेटे के पास जाना कोई जुर्म नहीं। मेरे पास रहेंगे मेरे इन्सानी रिश्ते और तुम्हारे पास सिर्फ चीजें।" □

दो राजकुमारियों की कथा

रवींद्रनाथ त्यागी

हमारी प्राचीन कथाओं की नायिकाएं अक्सर राजकुमारियां हुआ करती थी। बुरा हो इस प्रजातंत्र का कि हमारे किस्से-कहानियों से राजकुमारियां जीवन में नैतिकता की तरह गायब हो गई। परन्तु हमारे वरिष्ठ व्यंग्यकार और कवि रवीद्रनाथ त्यागी ने डायना जैसी कुछ आधुनिक राजकुमारियों को अपने किस्से-कहानी का पात्र बना लिया है।

गुणाढ्य की '**बृहत्कथा**', अरबी और फारसी की '**अल्फ़-लैला**' तथा देश-विदेश की अनगिनत लोक-कथाओं में ऐसी राजकुमारियों की बड़ी इफ़रायत के साथ चर्चा की गई है जिनके हँसने से फूल झरते थे, रोने से आँसुओं के स्थान पर मोती बिखरते थे और जिनके केश सोने के होते थे। इन चन्दनवर्णी राजकन्याओं का प्रणय पाने के लिए, न जाने कितने रूपवान् और बाँके राजकुमारों ने सात समुद्र पार किए, दक्षिण दिशा की यात्रा की और पँखों वाले घोड़ों की कमर को कसकर कष्ट पहुँचाया। मगर इस सबके बावजूद, अलीबाबा व अलादीन की किस्म के कुछ होनहार यात्रियों को छोड़कर, बाकी सब-के-सब ऐन वक्त पर 'खुल जा सिमसिम' वाला मंत्र भूल गए और या तो वे रास्ते के अज़दहों के पेट में चले गए और या फिर सराय की जादूगर भठियारिनों द्वारा भेड़-बकरा या पत्थर बना दिए गए। खुदा का शुक्र है कि ऐसी राजकुमारियों का उत्पादन धीरे-धीरे बन्द हो गया और उनके स्थान पर नितांत घरेलू किस्म की कन्याएँ पैदा होने लगी जिन्हें लेकर शरत् चंद्र, मुंशी प्रेमचंद, मोपासां, रेणु व पुश्किन जैसे कथाकार अपना धंधा किसी तरह चलाते रहे

और अपने ग्राहकों का दिल खुश करते रहे। मगर आपको यह जानकर खुशी होगी कि कुछ राजकुमारियाँ अभी भी सीन पर मौजूद हैं और उन्हीं में से दो राजकुमारियों की दास्तान आज मैं आपकी खिदमत में पेश करता हूँ। इन कथाओं को पढ़कर सबका भला होगा।

राजकुमारी डायना इंग्लिस्तान की रानी एलिज़ाबेथ (द्वितीय) की प्रथम पुत्रवधू थीं जो 'अभूतपूर्व' होने के साथ-साथ अब 'भूतपूर्व' भी हो गई। 'भूतपूर्व' होने के दो कारण प्रमुख रहे; पहिला कारण तो यह रहा कि उन्होंने राजकुमार चार्ल्स से तलाक ले लिया था और दूसरा कारण यह रहा कि उनकी एक कार-दुर्घटना में मृत्यु संपन्न हो गई। निर्वाण के समय डायना की आयु मात्र छत्तीस वर्ष ही थी। वे एक कुलीन वंश की पुत्री थी और उनके पिता एक 'अर्ल' थे। उनके होनहार भाई आजकल अपनी पत्नी से तलाक लेने में व्यस्त हैं। राजकुमारी डायना की सगाई जब प्रिंस चार्ल्स से हुई थी, तो उन्होंने सपनों में खोई किसी अप्सरा की भाँति मात्र इतना ही कहा था कि "कल्पना करो कि आप जीवन के हर दिन दूल्हे के रूप में एक नया विवाह करें। यह वैसा ही है जैसा जो पसन्द करे।" उन्होंने दो पुत्रों को जन्म दिया जिनमें शायद एक कभी इंग्लैंड का राजा बने। प्रिंस चार्ल्स एक चरित्रवान व्यक्ति था और इसी कारण वह विवाह के बाद भी कैमिला-पार्कर-बाउल्स से प्रेम करता रहा। परंपरा में विश्वास न रखने वाली राजकुमारी डायना, हैविट नामक एक साधारण व्यक्ति को अपना तन-मन देती रही और बाद में तो उन्होंने रज़िया सुल्ताना की भाँति अपने अस्तबल के दरोगा तक से घनिष्ठ संबंध स्थापित किए और उन्हें खुले-आम प्रेस के सामने स्वीकारा। तलाक लिया, अरबों-ख़रबो की संपत्ति ली और इतने प्रेमी पाले की उनकी सही संख्या शायद वे खुद भी नहीं जानती थी। फिलहाल, वे पेरिस के एक अमीर विलासी डोडी-अल-फ़ायद के साथ ठहरीं थीं, जिससे वे शायद शादी करती। उसने राजकुमारी को सगाई की एक अंगूठी दी थी, जिसमे करोड़ों रुपयों के हीरे जड़े थे। पारदर्शी जीवन जीने में विश्वास करने वाली यह रूपसी युवती अब प्रेस से बचना चाहती थी और इसी कारण उसकी मोटर बेतहाशा तेज़ दौड़ी और दुर्घटना का शिकार हो गई। दुर्घटना का एक छोटा-सा कारण शायद यह भी था कि गाड़ी का ड्राइवर स्वयं अपनी प्रेयसी के व्यवहार से दुखी था और मानसिक-अवसाद की दवाइयों के साथ-साथ वह शराब के नशे में बुरी तरह धुत्त था।

राजकुमारी डायना को 'प्यार की देवी' स्वीकार किया गया क्योंकि अगर वे आज ताजमहल देखती थीं, तो कल मदर टेरेसा के आश्रम में भी जाती थी। यदि रात भर वे कसकर भोग-विलास करती थीं तो दिन में आम लोगों से मिलती जुलती भी थीं और मोज़ांबीक, अंगोला व बोस्निया की दुखी व घबराई हुई जनता के दुख मिटाने का प्रयास भी करती थीं। कुल मिलाकर इस बुद्धिमती स्त्री ने जाने-अनजाने चारों तरफ़ कुछ ऐसा

माहौल तैयार किया कि एक तरफ तो वह जी भर कर प्यार करती रही और दूसरी तरफ यह भी प्रदर्शित करती रही कि वह तो आम आदमी के दुख-दर्द से सीधी जुड़ी है और राजवंश की रुढ़िवादी परंपराएँ व शताब्दियों से चली आ रही मर्यादाएँ उन्हें बंधन मात्र ही लगती हैं, और कुछ नही । आम पब्लिक उसके प्रेम के चक्कर में फंसती गई । पब्लिक की बेवकूफी ने राजमहल व राजपरिवार को भयंकर परेशानियों में डाल दिया । दुनिया भर के अनन्त लोगों ने लाखों या शायद करोड़ों रुपयों के फूल और शोक-सन्देश भेजे मगर किसी ने यह नहीं पूछा कि "हमारी प्यारी और हमदर्द ओ राजकुमारी, तुम किसी मोची या मजदूर नवयुवक से जुड़कर अपनी अरबों रुपयों की दौलत गरीबों में क्यों नही बॉट देती ? तुम जिस अधेड़ के साथ फिर से शादी रचाने की सोच रही हो, वह करोड़पति ही क्यों है ? तुम खुद को बेवकूफ बना रही हो या हम सबको ?" सच्ची बात तो यह है कि इस रहस्य का पता कभी नही लगेगा । नितांत सदाचारिणी इंग्लैंड की महारानी ने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा होगा कि उनकी अगली पीढ़ी इतनी प्रतिभाशाली निकलेगी । इस पीढ़ी ने तो मुग़लानी बेग़म, और रुस की सम्राज्ञी कैथरीन तक को पीछे छोड़ दिया । क्या अजीब इत्तफाक है कि घोड़ों की दौड़ में गधे जो थे, वे आगे निकल गए । अपनी विदेश-नीति की भाँति मैं तो एक तटस्थ व्यक्ति हूँ जो 'रहा किनारे बैठ' की मुद्रा में यही सोचता है कि राजकुमारी डायना या तो शायद किसी मानसिक रोग या कुंठा से ग्रस्त थी या फिर वे इतनी कुशल अभिनेत्री थी कि उनके 'खेल' को कोई नही समझ सका ।

राजकुमारी डायना की अपार लोकप्रियता ने इंग्लैंड के राज-परिवार को भयंकर असमंजस में डाल दिया । वह होने वाले राजा की सगी मां थी और तलाक के पूर्व इंग्लैंड की महारानी की पुत्रवधू थी। बहरहाल, राजकुमारी की इस महान् लोकप्रियता को नज़रअंदाज नही किया जा सकता था । महारानी अपने स्काटलैंड के महल से निकली और लन्दन आई । उन्होंने उसे 'इंग्लैंड की प्रिसेज़' कहकर पुकारा और राजमाता तक ने उसके लिए शोक मनाया । महारानी के पति प्रिस फ़िलिप, राजकुमारी के भूतपूर्व पति प्रिंस चार्ल्स व उनके दोनों पुत्र, 'बकिंघम पैलेस' से 'वेस्टमिंस्टर ऐबे' तक सात किलोमीटर पैदल चलकर गए । इतना सबकुछ करने के बावजूद, राजकुमारी डायना को शाही क़ब्रिस्तान में ही दफ़नाया गया । इंग्लैंड का तो सारा शासन मात्र परंपराओं पर ही आधारित रहा । मध्यकाल में भी केवल रानियों व राजकुल के सदस्यों को ही 'टावर आफ़ लन्दन' में फांसी दी जाती थी और उनका सिर कुल्हाड़ी से काटा जाता था । बाकी लोगों को, चाहे वे टामस क्रामवेल या सर थामस मूर ही क्यों न हो, टावर के बाहर ही फांसी दी जाती थी और वह भी कुल्हाड़ी से सिर काटकर नहीं, वरन् गले में रस्सी का फंदा डालकर ही दी जाती थी । जन्म प्रकृति के हाथ में है, जो अमीर व ग़रीब और राजा व रंक में भेदभाव नही करती मगर मृत्यु तो, काफ़ी हद तक, आदमी के हाथ में है और उसमें तो भेदभाव किया ही जा सकता

है। राजकुमार चार्ल्स सोच रहे हैं कि वे शायद राज-सिहासन प्राप्त कर लेने के बाद, 'बकिंघम पैलेस' में न रहें। कुछ लोगों का विचार है कि शायद ब्रिटेन का राजतंत्र ही अब समाप्त हो जाए....

राजकुमारी डायना तो दफ़न हो गई मगर सुश्री किटी-कैली जैसी पवित्र आत्माएँ क़ब्र के बाहर हैं। उन्होंने न जाने कितनों को नंगा किया और करोड़ों कमाए। राष्ट्रपति रीगन की पत्नी तक को उन्होंने नही छोड़ा जो पूरे कपड़े पहिनती थी, इस परम 'पतिव्रता' राजकुमारी को लेकर इस महान् लेखिका ने 'हाउस आफ़ विंडसर' की बखिया उधेड़नी शुरू कर दी है। अखबारों के विशेषांक के बाद विशेषांक निकल रहे हैं, डायना के अधनंगे चित्रों वाली किताबें लाखों की तादाद में छप रही हैं और बिक रही हैं और सिनेमा वाले चित्र के बाद चित्र बनाने में व्यस्त हैं। जो अनन्त पुष्पराशि 'बकिंघम पैलेस' के चारों ओर बिखरी है, वह अब नीलाम होगी और उससे प्राप्त राशि, पीड़ितों व ग़रीबो पर खर्च होगी। कला का विकास होगा और प्रजातंत्र की जड़ें मजबूत होंगी। इंग्लैंड की महारानी, इन सब मसलों को अधूरा छोड़ कर अपने पति के साथ स्काटलैंड के महल में फिर गायब हो गई। अब प्रिंस चार्ल्स क्या करेंगे, यह कोई नही जानता। मेरा अनुमान है कि वे अपनी उसी पुरानी प्रेयसी के साथ डेरा जमाएंगे जिसकी मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ। कवि कहता है:

(एक)

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं।
अभी इश्क के इम्तहाँ और भी हैं॥

(दो)

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नार, मरै वह खसम निखट्टू॥

विदेशी राजकुमारी की चर्चा करने के बाद अब मैं अपने ही देश की एक देशी राजकुमारी की चर्चा करता हूँ। ऋषियों, मुनियों, फ़कीरों, संतों और दरवेशों के इस पवित्र देश में जयपुर के सूर्यवंशीय परम प्रतापी राजा ब्रिगेडियर भवानी सिह की उदार कन्या कुमारी दिया (उर्फ़ शहज़ादी दियासिंह) ने अपने ही राजमहल के एक शोफ़र (या चौकीदार) से विवाह कर लिया, जिसमें अनेक भूतपूर्व नरेशों ने बाकायदा हिस्सा लिया। विवाह को 'समगोत्री' समझने वाले, 'राजपूत-सभा' के कुछ रुढ़िवादी सदस्यों ने इस विवाह का विरोध किया पर राजवंश ने उनकी कोई परवाह नहीं की। इंग्लैंड में राजवंश परंपरावादी है तो हमारे यहाँ प्रजा रुढ़िवादी है। महारानी पद्मिनी देवी की सुपुत्री दिया का विवाह दिल्ली के 'महारानी बाग' में ही हुआ (कुछ अखबारों में महारानी बाग की जगह

'जोरबाग' छपा है) और इस समाचार को पढ़कर इस महान प्रबंध के अमर लेखक की तबियत भी 'बाग़-बाग़' हो गई। कुछ महीने पहले बीकानेर के राजवंश ने भी ऐसी ही उदारता प्रदर्शित की थी, जबकि वहाँ की राजकुमारी ने किसी राजकुमार के साथ हुई अपनी सगाई को तोड़कर एक साधारण ब्राह्मण-कुमार के साथ अपना परिणय किया था। कर्नल टॉड के 'राजस्थान का इतिहास', कल्हण की 'राजतरंगिणी' व हमारे मिथक ग्रंथ-पुराणों, में ऐसी उदारमना राजकुमारियों की चर्चा अनेक स्थानों पर की गई है। भगवान करे कि जयपुर की यह राजकन्या दूधों नहाए और पूतों फले। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि कभी मेरा भी विवाह एक राजकुमारी से ही होने वाला था मगर वह सौभाग्यवती कन्या मात्र नाम से ही राजकुमारी (या राजदुलारी) थी, हकीकत में उसका बाप एक पटवारी ही था, और कुछ नही। बहरहाल अब यह आशा बंधती है कि कोई राजमाता शायद मुझ पर भी कभी कृपा करे। विपत्ति का कुछ पता नही कि वह कब आ जाए और किधर से आ जाए और जब विपत्तियाँ आती हैं, तो चारों तरफ से आती हैं। काल नो मैन हैप्पी, टिल ही इज़ डैड (प्लेटो)। बहरहाल, इन देशी राजकन्याओं के प्रेम को देखकर मुझे एक 'बब्बरशेर' और एक 'राजबब्बर शेर' याद आ गया जो आपकी सेवा में प्रस्तुत करता हूँ :

(एक)

इश्क पर ज़ोर नही, है ये वो आतिश 'ग़ालिब'
कि लगाए न लगे, और बुझाए न बने

(दो)

बारहा बैठ गए हार के चुंगी वाले
रास्ता इश्क का हमवार न होने पाया

कथाएँ जो थीं, वे समाप्त हो गई और अब मैं यह सोचने लगा कि इनसे मुझे क्या शिक्षा मिली। कथा के बाद यदि शिक्षा व प्रसाद नही मिलते तो 'कथा' जो है, वह 'व्यथा' में बदल जाती है। मुझे याद है कि जब मैं किशोर था, तो हमारे कस्बे में एक पंडित जी रहते थे, जो 'सत्यनारायण की कथा' सुनाने में राजा दक्ष की ही भाँति 'दक्ष' थे और जो पत्नी के विरह में कालिदास के 'यक्ष' के समान ही दुखी रहते थे। यह विरह कभी-कभी अपनी पत्नी का भी होता था हालांकि ज्यादातर समय वे उन पत्नियों के विरह में व्याकुल रहते थे, जो दूसरों की होती थीं। उनकी अपनी पत्नी भी अत्यंत 'रूपवती' थी जो 'कलावती' भी थी और 'गलावती' भी थी। कथा के और आरती के समाप्त होने पर वही 'रूपमती' कथा का 'प्रसाद' बाँटती थी, जो जयशंकर 'प्रसाद' से भी कहीं ज्यादा श्रेष्ठ होता था। उस देवी के सोने के 'टके' जैसे दमकते रूप के सामने, उसके पतिश्री 'मटके' जैसे

लगते थे, जो चलते कम थे, लुढ़कते ज्यादा थे। उस शक्तिशाली कथावाचक महाब्राह्मण के साथ, उनकी वह कृशकाय पत्नी उस चित्र की याद दिलाती थी जिसमें मोदकप्रिय मुदमंगलदाता गणेश जी के साथ उनका वाहन भी दिखाया गया था हालांकि व्याकरण की दृष्टि से पंडित जी की पत्नी को 'वाहन' के स्थान पर 'वाहिनी' कहना ही ज्यादा उपयुक्त होगा। वह सुकुमार तन्वांगी अपने उस पति का सारा 'भार' उठाती थी और इस 'भारी' सुख के लिए परमपिता परमात्मा के प्रति दिन भर अपना 'आभार' प्रकट करती थी। वह वर्षा के साथ जाते उस वसंत की याद दिलाती थी, जिसको 'अज्ञेय' ने बहुत वर्षों बाद किसी विदेशी हाइकू के सहारे पकड़ा था (वर्षा में मैंने वसन्त को देखा, छाता एक, एक बरसाती। साथ साथ जोत बतियाते)

मैं पलंग पर लेटा हूँ और ज्ञान की प्राप्ति करने में तत्पर हूँ। राजकुमार सिद्धार्थ बारह वर्ष तक ध्यान करते रहे थे और बाद में चलकर सही 'बुद्धि' प्राप्त होने के कारण 'बुद्ध' कहलाए थे। मैं सारी उम्र कुर्सी पर बैठा या पलंग पर लेटा रहा और 'बुद्धू' ही रहा। मुझे 'ज्ञान' तो क्या, 'अज्ञान' तक नही मिला। यह सारा हादसा मात्र इस कारण हुआ क्योंकि मैंने अपनी कुर्सी या पलंग पीपल के वृक्ष के नीचे नही डाला, उन्हें कमरे में ही डाला। अब कमरे में पीपल का वृक्ष कैसे उगाया जा सकता था, इस बात पर कभी ध्यान ही नही गया। नतीजा सामने है। राजकुमार 'सिद्धार्थ' तो भगवान् बुद्ध हो गए और मेरा कोई भी 'अर्थ' 'सिद्ध' नहीं हुआ। मैं तो 'असिद्धार्थ' ही रहा। अब अगर कमरे में पीपल का वृक्ष प्रतिष्ठित करूँ भी तो क्या फायदा? जब तक वह गुझे छाया देने लायक होगा तब तक मैं वैसे ही निर्वाण प्राप्त कर लूँगा। भगवान् जो करता है वह ठीक ही करता है। प्रिस अली खॉ भी कभी गाड़ी दौड़ाते हुए दुर्घटनाग्रस्त हुए थे पर इत्तफाक की बात कि उस वक्त उनकी पत्नी रीता हैवर्थ उस गाड़ी में नहीं थी। प्रिंस अली खॉ के पिताश्री सर आगा खान ने इस सारी घटना पर 'भगवान् की इच्छा' कह कर चुप्पी साध ली थी। हाँ, पतिव्रता रीता हैवर्थ, जरूर कुत्ते और प्रेमी बराबर पालती रही। सर आगा खान ने तो अपने इस नालायक पुत्र को वैसे भी उत्तराधिकर से वंचित कर दिया था। अगर राजकुमारी डायना का प्रेमी भी गाड़ी में अकेले ही मरता, तो इस बात से कितने लोगों को दुख पहुँचता ?

रचना के शीर्षक में मैंने दो राजकुमरियों की कथा सुनाने का वायदा किया था, जो पूरा हो गया। 'किस्सा साढ़े तीन परी' या 'किस्सा साढ़े तीन यार' में भी ऐसा ही किया गया था। ईमानदार लेखन इसी का नाम है। मैं 'मिश्रबंधु' नही हूँ, जिनके 'हिन्दी-नवरत्न' में दस कवियों की चर्चा की गई है। जहाँ तक डायना को दी गई अंगूठी का प्रश्न है, मैं केवल यही कह सकता हूँ कि अपनी सगाई या स्वयंवर के समय, मुझे भी सोने की एक अंगूठी मिली थी जिसमें 'पुखराज' लगा था, जो स्वर्णकार की गलती से ढीला लगा था और इसी कारण जो एक रात्रि 'अंगूठी' को 'अंगूठा' दिखा गया। सारे स्वर्णकार नन्ददास नहीं होते

(और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया) बड़े शंकित मन से, धनाभाव के कारण, मैंने उस 'पुखराज' के स्थान पर एक पीले रंग का पारदर्शी पत्थर लगवा लिया जिसके लगवाने में मात्र तीन मुद्राएँ लगीं। मगर 'मुद्रिका-रहस्य' यह है कि उस पाषाण-हृदय पाषाण के विश्वासघात के बावजूद, मेरे इस क्षण-भंगुर जीवन के पिछले बयालीस वर्षों का संघर्षशील विवाहित जीवन, वसन्त में वर्षा की भाँति अब तक मनोरम ही चल रहा है और निकट भविष्य में भी उस संदर्भ में कोई बाधा आती दिखाई नहीं पड़ती। प्रिंसेस डायना को दी गई करोड़ों की अंगूठी प्रिंस चार्ल्स ने उसकी बहन को दे दी; 'हाउस आफ विंडसर' की परंपरागत ईमानदारी पर उसकी प्रेयसी के पेटीकोट का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। और जहाँ तक शव-यात्रा में सात किलोमीटर पैदल चलने की चर्चा है, वह तो सचमुच दिल दहलाने वाली बात है। महाकवि अकबर, मुर्दा तो क्या, ज़िन्दा पत्नी या प्रेयसी के लिए भी उतनी तकलीफ नही कर सकते थे। (बंग्लए जानां सवा दो कोस है, चल नहीं सकते बड़ा अफसोस है) हाँ, इतना मैं जरूर कहूँगा कि राजकुमारी डायना को भेजे गए फूलों की नीलामी वगैरा से जो अनंत राशि मिलेगी, उसमें से हमारे देश को कुछ न दिया जाए। अब हमारा देश, कुछ भी हो, गरीब नहीं रहा।

अब इस देश को लूटने के लिए नादिरशाह, वारेन हेस्टिंग्ज़, अहमदशाह अब्दाली और लार्ड क्लाइव की ज़रूरत हमें नही रही। अब यह सारा काम हम खुद ही करेंगे। आखिर आत्मनिर्भरता भी तो कोई चीज़ होती है या नहीं ? राजकुमारी डायना की याद में छपे सत्तर लाख पाऊंड के डाक-टिकटों में से भी हम कोई पैसा नही चाहते। हम तो बिना टिकट ही काम चलांएगे और खुद भी बगैर टिकट ही चलेंगे। हमारे खत 'लाजवाब' ही रहेंगे और हमारी नैतिकता इतनी गर गई है कि वह 'लाइलाज' ही रहेगी।

राजकुमारी डायना की मृत्यु से मुझे बहुत शोक है हालांकि इस हादसे के लिए अन्ततः वह खुद ही जिम्मेदार थी। छत्तीस वर्ष की आयु, इतने शानदार महल इतना मशाल-सा जलता रूप और अरबों-खरबों रुपए, सब बेकार गए। इतने प्रेमियों के पीछे भागने से क्या मिला ? बीसियों चाहने वालों की जरूरत क्या है, नाज़ उठवाओगी तुम उनसे या कि छप्पर कोई ? एक हमारा यह धार्मिक देश है, जहाँ 'गंडे' बाँधने वाले 'पंडे' युवतियों के साथ खुले-आम बलात्कार करते हैं मगर उनके 'भंडे' कभी नही फूटते क्योंकि 'गुंडे' जो हैं, वे उनके साथ हैं, गॉव गाँव 'कंडे' बीनती निरपराध पत्नियों को दहेज के मुद्दे पर जलाया जा रहा है और कप्तान-पुलिस जो हैं, वे असरकारी के 'हंडे' में नोटों की गड्डी डालने के लिए उनके महल के लान पर चहल-कदमी कर रहे हैं और 'आना मेरी जान 'संडे' के संडे' वाला राष्ट्रीय-गान गा रहे हैं। मैं सब देखता हूँ, सब जानता हूँ मगर कुछ नहीं कर सकता। कर ही क्या सकता था बन्दा खांस लेने के सिवा ? मैं सचमुच उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब हमारी संसद व विधानसभाओं में महिलाएँ ज्यादा संख्या में बैठेंगी।

मेरी विरक्ति की मुद्रा बढ़ती जा रही है। वैसे भी यह 'आयु' उस दिशा में जा रही है जहाँ इस शरीर के दश द्वारों में से प्राणों की 'वायु' बिना किसी कार-दुर्घटना के निकल जाती है और जहाँ कोई पंक्चर लगाने वाला भी काम नही करता। "तृष्णा जीर्ण नही हुई, हम ही जीर्ण हो गए। काल नहीं बीता, हम ही बीत गए" (भृर्तहरि)। डूबते हुए जहाज़ पर एक दूसरे की जेब काटने से मुझे क्या मिलेगा? सांई इतना दीजिए जामें कुटुम समाय; मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाए।" हालांकि कबीर के यहाँ कोई साधु भोजन के समय तक रुकता होगा, इसमें मुझे संदेह है। जैसे ही कोई थका-मांदा साधु आता होगा, कबीरदास अपने नए काव्य-ग्रंथ की पांडुलिपि उठा लेते होंगे और जैसे ही वे 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' वाला 'अनहद-नाद' शुरू करते होंगे, वह ग़रीब भाग खड़ा होता होगा।

तो अब मैं तुम सबको छोड़कर अपना परलोक ठीक करने के हेतु वन की दिशा में प्रस्थान करता हूँ। अभी श्वेताम्बर हूँ पर वन तक पहुँचते पहुँचते मैं भी दिगंबर होने की पूरी आशा रखता हूँ। अगले बजट के आने के बाद, तुम बिना वन गए ही, उस स्थिति को यहीं प्राप्त कर लोगे-यह भी मैं जानता हूँ। वन-गमन की इस पवित्र 'बेला' में यदि कोई चंद्रबदन-मृगलोचनी 'बाला' मेरे साथ चलना चाहे, तो मुझे और भी प्रसन्नता होगी। 'कान्ता' के बिना आप 'श्रीकांत' नही बन सकते और आकर्षणों के अभाव में आपको (व उस चंद्रवदन मृगलोचनी को) पता कैसे लगेगा कि हम दोनों ने अपनी इन्द्रियाँ जीत ली हैं या नही ? भगवान् की भक्ति से परिपूर्ण कुछ कवियों की पवित्र वाणी आपकी सेवा में अर्पित करता हूँ और राजकुमारियों की यह कथा यही समाप्त करता हूँ।

दुख को दुखी होकर व सुख को सुखी होकर ही जीतना है। वीतरागी होने से क्या फायदा? हाँ, ऐसी अप्सरा की मुझे कोई इच्छा नही है जिसको पाकर मैं भेड़-बकरा या पत्थर बन जाऊँ कवि कहता हैः

(एक)

कवि 'सेवक' बूढ़े भए तो भए।
पर मौज हनोज-मनोज ही को॥

(दो)

मनुज रूप है अवतरयो तीन वस्तु को जोग।
द्रव्य-उपार्जन, हरिभजन अरु कामिनि संग भोग॥

□

जीवोक्रेसी

गिरीश पाण्डे

"चूँकि अभी 'जीवोक्रेसी' का आइडिया बिल्कुल ताजा और अपने शुरूआती दौर में है इसलिए अभी इस व्यवस्था के बहुत सारे प्रश्नों तथा संभावनाओं पर चिन्तन बाकी है। हाँ, इतना निश्चित है कि यदि राजतंत्र आदिकाल से अट्ठारहवी शताब्दी तक की प्रमुख शासन व्यवस्था रही और डेमोक्रेसी उन्नसीवी तथा बीसवीं शताब्दी की प्रचलित शासन व्यवस्था, तो जीवोक्रेसी इक्कीसवीं और उसके बाद की शताब्दियों की सर्वमान्य शासन व्यवस्था होगी।" पर यह जीवोक्रेसी है क्या? इसका व्यंग्यात्मक चित्रण कर रहे हैं कवि और व्यंग्यकार गिरीश पाण्डे।

समाज की व्यवस्था के लिए सबसे पहले राजसत्ता का आविष्कार हुआ। राजा और राजतंत्र की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त बताये गये। कुछ लोग तो राजा के अवतरण को ईश्वरीय बताते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, आदिकाल में लोगों ने स्वयं अपने कुछ अधिकार एक व्यक्ति को सौंप दिये और वह व्यक्ति राजा कहलाया। और इस प्रकार जो व्यवस्था पनपी, वह राजतंत्र कहलायी। फ़िर, धीरे-धीरे राजतंत्र में विकृति आयी और जो एक बार राजा बना वह कोशिश करने लगा कि उसका बेटा भी राजा बने। इस इच्छा की पूर्ति करवाने के लिए राजसत्ता तो उसके पास थी ही। लेकिन जैसे-जैसे राजतंत्र की अन्य तमाम कमियॉं लोगों के सामने आती गयीं, व्यवस्था के लिए नये-नये तंत्र की तलाश शुरू

हुई। तमाम सारे विचारकों के चिन्तन और फ्रांस की राज क्रान्ति का नतीजा हुआ कि नई शासन व्यवस्था पनपी जिसको डेमोक्रेसी कहा गया। राजतंत्र में किसी क्षेत्र विशेष की शासन व्यवस्था एक आदमी की मर्जी से चलती थी लेकिन डेमोक्रेसी में उस क्षेत्र विशेष में रहने वाले सभी लोगों की मर्ज़ी लेना, व्यवस्था के लिए जरुरी माना गया।

लेकिन जैसे-जैसे समय आगे बढ़ा और विश्व के तमाम देशों में डेमोक्रेसी के अलग-अलग प्रयोग हुए तो डेमोक्रेसी की तमाम कमियाँ भी उजागर हुईं। अब एक नये शासनतंत्र की तलाश बहुत जरुरी हो गयी और फिर किसी क्षेत्र-विशेष की शासन व्यवस्था के लिए उस क्षेत्र-विशेष में रहने वाले लोगों की ही राय क्यों ली जाये? वहां रहने वाले अन्य जीवों, जानवरों, वनस्पतियों की राय भी क्यों न ली जाये? उनकी इतनी भयानक उपेक्षा क्यों की जाये? व्यवस्थायें नियम-कानून तो सभी जीवों और वनस्पतियों के बारे में बनाती ही हैं। फिर उनकी एवं उनके ज्ञान के उपयोग की आवश्यकता क्यों न महसूस की जाये? ज़ाहिर-सी बात है कि जब सारे जीवों की मर्ज़ी व्यवस्था के लिए ली जायेगी तो यह व्यवस्था अधिक परिपूर्ण, व्यापक और आनन्ददायी होगी। जैसे सभी लोगों को शामिल करते हुए जो व्यवस्था पनपी उसका नाम ग्रीक शब्द 'डिमॉस' और फ्रांसीसी शब्द 'डिमाक्रेटाई' के आधार पर डेमोक्रेसी रखा गया। 'डिमॉस' का अर्थ ही है 'लोग'। चूंकि सारे जीवों पर आधारित इस व्यवस्था अर्थात् जीवतंत्र की उत्पत्ति का विचार आज भारत में संभव हो रहा है इसलिए इसका नाम भारतीय शब्द जीव के आधार पर 'जीवोक्रेसी' ही रखा जायेगा और जीवोक्रेसी ही रखना उचित भी होगा।

जिस दिन 'जीवोक्रेसी' का महान विचार मेरे मन में आया, उसी दिन से अपने अनेक दोस्तों से इसकी चर्चा की। दोस्तों ने तरह-तरह के सुझाव दिये और तरह-तरह की इनसे जुड़ी अन्य बातें भी बतायीं। जब मैंने पोपटलाल जी से इसकी चर्चा की तो वे उछल पड़े। उन्होंने कहा-

"यार यह तो ब्रिलिएन्ट आइडिया है। मान लो कि शासन व्यवस्था के लिए किसी क्षेत्र से दस लोगों ने नामांकन भरा है। भालू, हाथी, चीते, भेड़िये आदि की राय जानने के लिए उनके सामने से उन दसों को गुजारा जाय। शेर महाराज की राय जानने के लिए जरुरी है कि उन्हें शेर के सामने भी भेजा जाये। जो-जो प्रत्याशी सभी मनुष्येतर जीवों द्वारा चुनकर सुरक्षित वापस कर दिये जायें, उन्ही में से फिर लोग अन्तिम रूप से प्रतिनिधि चुनें।"

मैंने पोपटलाल की इस बात पर एतराज़ ज़ाहिर किया कि "यह तो प्रतिनिधि चुनने का बड़ा वहशियाना अंदाज तुमने बताया। आज के सभ्य समाज में इसे कतई स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रतिनिधि चुनने की पूरी प्रक्रिया अहिंसक होनी चाहिए। कोई भी इलेक्शन कमिश्नर इस हिंसक तरीके के लिए कतई तैयार नहीं होगा।"

बगल में बैठे एक मित्र बीच में ही तपाक से बोल पड़े, "आप सभी कोचिंग की महिमा को नहीं जानते। एक बार यह व्यवस्था लागू तो हो जाने दीजिये। फिर देखिये कि तमाम ऐसे कोचिंग सेन्टर्स खुलेंगे कि वे कोचिंग लेने वाले प्रत्याशियों को ऐसे-ऐसे गुर सिखा देंगे कि शेर, चीता सभी उनके तलवे चाटेंगे। वे प्रत्याशियों को भी कोच कर देंगे और जंगली खूंखार जानवरों को भी।"

यद्यपि पोपटलाल जी ने बात मज़ाक के लहजे में कही थी लेकिन जब हम उनकी बात को अपनी पौराणिक गाथाओं के आईने में देखते हैं तो तमाम सारे रहस्य सुलझने लगते हैं। प्रह्लाद को भी हिरण्यकश्यप का उत्तराधिकारी तभी माना गया, जब उसे हिरण्यकश्यप ने मदमस्त हाथियों के पैरों के पास फिकवाया था। लेकिन हाथियों ने प्रह्लाद को मन से स्वीकार किया था। इसी प्रकार कृष्ण को भी कंस ने हाथियों के सामने फिकवाया था लेकिन उनका भी उन हाथियों ने अहित नही किया और भविष्य में कृष्ण तरह-तरह की शासन व्यवस्थाओं को संभालने के लिए योग्य हुए।

एक मित्र ने आइडिया दिया कि हमारे वनस्पतिशास्त्री जगदीश चन्द्र बोस के आविष्कार इस मामले में बहुत हितकर होगे। श्री बोस के आविष्कारों पर आधारित तमाम सारे संवेदनमापी उपकरण बनाये गये हैं, जो वृक्षों और वनस्पतियों की संवेदनाओं को आंकते और मापते हैं। तो सभी प्रत्याशियों से कहा जाय कि वे भांति-भांति के वृक्षों से लिपटकर दिखायें और वनस्पतियों को छूकर दिखायें तथा वृक्ष और वनस्पतियां यदि उनके आलिगन और स्पर्श से आह्लादित हों, प्रफुल्लित हों, प्रसन्न हों तो ही वह प्रत्याशी प्रतिनिधि होने का हक पाये।

एक मित्र ने प्रश्न उठाया कि दुनिया में इतनी सारी वनस्पतियां हैं, अनगिनत, अनन्त। यदि सभी प्रत्याशी उन सभी वनस्पतियों को ही छूते रहे तो कितना समय लगेगा। बहुत सारे प्रत्याशियों का तो पूरा जीवन ही वनस्पतियों को छूने और वृक्षों का आलिगंन करने में बीत जायेगा। तो क्या उन्हें अगले जन्म में चुना जायेगा?

पोपटलाल जी फौरन छूटते ही बोले, "यार यह तो बहुत अच्छा है। यदि सारे ही प्रत्याशी नेता लोग जीवन-भर वनस्पतियों को ही छूते रहे और वृक्षों का आलिंगन करते रहे, तो आम जनता कितनी राहत महसूस करेगी। चारों ओर कितना अमन-चैन होगा। लेकिन फिर वे गम्भीर हो गये। हमने पोपटलाल जी से पूछा, 'यार एकाएक तुम इतने गम्भीर क्यों हो गये?" वे बोले, "मैं सोचने लगा बेचारे उन वनस्पतियों और वृक्षों का क्या होगा?"

एक अन्य मित्र बोले, "होना क्या है। यदि चुनाव जल्दी-जल्दी हुए तो इतने तरह-तरह के हाथों के महिमामंडित स्पर्श से तमाम वनस्पतियां तो दम ही तोड़ देगीं या सूख जायेंगी।" तब तक पोपटलाल जी की मायूसी दूर हो चुकी थी। उन्होंने अपने पुराने फार्म

में आकर कहा, "नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं होगी। प्रत्याशी सीधे ही वनस्पतियों के पास थोड़े चलें जायेंगे। ये इतने बेवकूफ़ नहीं होते हैं। पहले कई बार वनस्पतियों के पास खाद, पानी, वगैरह लेकर जायेंगे। चुनाव के ठीक पहले तो अनेकों बार ये सब लेकर जायेंगे। संभव है, बहुत-सी वनस्पतियां इन्हें पहचानने भी लगें। मैं तो सोचता हूँ कि यदि बार-बार जल्दी-जल्दी चुनाव हुये, तो वनस्पतियां स्वस्थ हो जायेंगी। खूब मोटी तगड़ी। अनेक सूखे क्षेत्रों में भी नमी आ जायेगी। बल्कि तमाम सारी वनस्पतियां तो जल्दी-जल्दी चुनाव का इंतजार करेंगी। वनस्पतियों के लिए भी चुनाव वह काम कर देंगे, जो तमाम सारी योजनायें नही कर पाती। ठीक उसी प्रकार, जैसे डेमोक्रेसी में चुनाव से उन तमाम सीमान्त गरीब तबकों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ पहुंच जाता है, जिन तक पहुंचने के काफी पहले ही सारी योजनायें सूख जाती हैं। इसीलिए जीवोक्रेसी में वनस्पतियां चुनावों का स्वागत करेंगी।"

जाहिर है कि वनस्पतियों की राय लेने के बाद जो व्यवस्था पनपेगी वह इकोफ्रेंडली होगी। आज डेमोक्रेसी में सारा तंत्र, सारी व्यवस्था लोगों के अधिकतम लाभ के लिए लगी हुई है इसलिए धरती का अतिदोहन हुआ और पर्यावरण प्रदूषित हुआ। नदियों और समुद्रों की मछलियों तथा अन्य जलचरों तक का अस्तित्व संकट में पड़ गया। जीवोक्रेसी के विकास के साथ यह आशा बंधेगी कि पूरी धरती हरी-भरी बनी रहे और पर्यावरण भी शुद्ध रहे।

एक मित्र ने राय दी कि आज भले ही भूकम्प आदि नापने के लिए रिक्टर स्केल वगैरह विकसित कर लिये गये हैं परन्तु अब भी भूकम्प आने की पूर्व सूचना जीव-जन्तुओं के माध्यम से ही सही तरीके से मिलती है, जैसे कि चूहों, मेढकों, चिड़ियों आदि में विशेष तरह की हरकतें आ जाती हैं। इसी प्रकार तूफान, चक्रवात या बारिश आने की पूर्व सूचना भी जीव-जन्तुओं से मिलती है। इस मित्र ने आगे सुझाया कि इन्ही तथ्यों के आधार पर प्रत्याशियों को इन सभी जीव-जन्तुओं के सामने से गुजारा जाये और उन जीव-जन्तुओं की गतियों का अध्ययन किया जाये, तो उससे सहज ही अनुमान हो जायेगा कि कौन-सा प्रत्याशी भूकम्पी है, कौन-सा चक्रवाती है, कौन तूफानी है और कौन-सा नमी से सरोबार है।

एक मित्र ने तो इस चिन्तन को एक नये ढंग से ही देखा। उन्होंने कहा, 'भाई साहब यह तो आप देख ही रहे है कि पहले चुनावों में जीतने के लिए प्रत्याशियों ने गुण्डों, बदमाशों, अपराधियों और माफियाओं से मदद ली लेकिन जब इन विविध तत्वों ने देखा कि इन्हीं के सहारे लोग चुनाव जीतकर ऐश कर रहे हैं, तो उन्होंने सोचा कि वे खुद ही चुनाव में क्यों न उतर जायें और स्वयं सत्ता सुख भोगें और नतीजा आपके सामने है कि अब चुनावों में ये तत्व खुलकर प्रत्याशी के रूप में खड़े होने लगे हैं और जीतने लगे हैं।

अतः इस बात की संभावना से इनकार नहीं क्या जा सकता कि जब शेर देखे कि उसके द्वारा चुने जाने से लोग प्रतिनिधि बनते हैं, तो वह स्वयं ही प्रतिनिधि बनने के लिए मैदान में आ जाये। इस बात से इनकार नही किया जा सकेगा कि शेर जंगल का राजा बनने के साथ-साथ शहरों का भी राजा हो जाये।"

एक मित्र ने सुझाया, "संभव है कि 'जीवोक्रेसी' से डेमोक्रेसी की तमाम सारी समस्यायें दूर हो जायें। जैसे, यदि इन कुछेक महीनों की खिचड़ी सरकारों से निज़ात पानी हो तो बरगद और पीपल को प्रतिनिधि बनाना पड़ेगा जिनकी उम्र कई सौ वर्ष होती है। फिर जीवोक्रेसी के सदन में जूते-चप्पल और हथियार चलने की संभावना भी नहीं रहेगी।"

जीवोक्रेसी पर सारे सुझाव उत्साहवर्द्धक ही नही रहे। तमाम खट्टे-मीठे विचार सुनने को मिले। एक मित्र ने कहा, "भाई साहब, क्या डेमोक्रेसी में कम समस्यायें हैं, जो आप एक कदम और आगे जाकर जीवोक्रेसी की बात कर रहे हैं। जब उसको लागू कराने में तमाम गुना व्यावहारिक कठिनाइयां आयेंगी तब क्या होगा?" एक मित्र ने तुरन्त इसका उत्तर भी दे दिया, "अरे कम्प्यूटर युग तो आ ही गया है। जीवोक्रेसी में सारी चुनावी प्रक्रिया कम्प्यूटरीकृत तरीके से, आसानी से संभव हो सकेगी।"

जब एक देश के एक जिले के मैजिस्ट्रेट से इस मुद्दे पर बातें हुई तो उन्होंने कहा, "यार डेमोक्रेसी में वैसे ही चुनाव के लिए अपटूडेट वोटर लिस्ट बनाना टेढ़ी खीर है। हजारों आब्जेक्शन अंत तक आते रहते हैं। जीवोक्रेसी में तो वोटर लिस्ट बनाना लगभग असंभव ही होगा।" पोपटलाल जी तपाक से बोल पड़े- "यह आब्जेक्शन आना बड़ी अच्छी बात है। जब जीवोक्रेसी की वोटर लिस्ट बनेगी और हजारों लाखों जीवों, जन्तुओं तथा वनस्पतियों के आब्जेक्शन आयेगे तो इसी बहाने हमें पता तो चल जायेगा कि विश्व में कितने तरह-तरह के जीव, जन्तु और वनस्पतियां हैं। जो काम, दुनिया भर के इतने जीवशास्त्री और वनस्पतिशास्त्री अपने शोधों द्वारा न सम्पन्न कर सके, वह कार्य जीवोक्रेसी की चुनाव प्रक्रिया द्वारा सहज ही पूर्ण हो जाने की सबल संभावना रहेगी।"

एक अन्य मित्र ने सुझाया कि डेमोक्रेसी की वजह से लोग सीमाओं में बंधे हैं। गांव, शहर, जिले, समाज, राज्य न जाने कितनी तरह की सीमायें। संभव है कि 'जीवोक्रेसी' से सम्पूर्ण विश्व एक हो जाये। क्योंकि भले ही अलग-अलग क्षेत्र के लोगों की भाषा अलग-अलग हों लेकिन समस्त विश्व के मनुष्येतर जीवों और वनस्पतियों की भाषा और सभ्यतायें एक ही हैं एवं स्थान के अनुसार इतना भयानक परिवर्तन उनमें नहीं होता। लोगों के पास तरह-तरह की झंडियॉ हैं, वर्दियां हैं; इसीलिए तरह-तरह के विभाजन है। ईश्वर की कृपा है कि जानवरों और वनस्पतियों के पास न झंडियां है और न वर्दियां। इसलिए भी उनमें बंटवारे की संभावनायें कम हैं। फिर वनस्पतियों के द्वारा जाति, धर्म व वर्ण के आधार पर चुनाव करने की संभावना नहीं रहेगी। संतोष की बात है कि अन्य जीवों में मनुष्यों की तरह जरूरत से अधिक संचय की प्रवृत्ति नहीं हैं इसलिए जीवोक्रेसी में न तो

कैपिटलिज्म का झगड़ा होगा न कम्युनिज्म का टंटा और न ही सोशलिज्म की भ्रांति।

एक मित्र, जो कम्युनिकेशन एक्सपर्ट हैं, ने जीवोक्रेसी का एक और लाभ समझाया। उन्होंने बताया कि कम्युनिकेशन दो तरह का होता है, वर्बल और नान-वर्बल (शाब्दिक और गैर-शाब्दिक)। भाषा, बोली, बातचीत, फाइल, टिप्पणी, नियम-कानून; ये सब वर्बल कम्युनिकेशन हैं जबकि हावभाव, शरीर की भाषा, खुशी, गम, कार्य, चाल-चलन, स्वास्थ्य, तेज चलती सांसें, दिल की धड़कनें, खिलना, सूखना, मुर्झाना, लहराना, फैलना, सिकुड़ना; यह सब नान-वर्बल कम्युनिकेशन हैं। हर मनुष्य समुदाय कोई-न-कोई भाषा या बोली जानता है, इसीलिए मनुष्यों के बीच वर्बल कम्युनिकेशन अधिक होता है, जबकि अन्य जीवों और वनस्पतियों के बीच नान-वर्बल कम्युनिकेशन ही होता है। नेता और जनता के बीच, नारे, वादे सब भाषा के माध्यम से, वर्बल ही होते हैं। जहां भाषा पर आधारित सम्बन्ध नहीं है वहां केवल कार्य और अन्दर के भाव ही महत्व रखते हैं। जीव और वनस्पतियां किसी का मूल्यांकन नारों और वादों के आधार पर नही, उसके मन और कार्यों के आधार पर करेंगी। वर्बल कम्युनिकेशन से किसी को आसानी से बेवकूफ बनाया जा सकता है लेकिन नान-वर्बल कम्युनिकेशन से किसी को बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता। इसलिए जीवोक्रेसी में नारों और वादों का वर्चस्व नही रहेगा। कथनी और करनी का ये अन्तर नहीं रह पायेगा। ये जीव-जन्तु और वनस्पतियां आसानी से दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर देंगे।

वनस्पतिशास्त्र के एक छात्र ने जब यह आइडिया सुना तो उसने पूछा, "आज तमाम देशों में डेमोक्रेसी में महिलाओं के लिए आरक्षण की बात उठ रही है। जीवोक्रेसी में हमें इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि बहुत सारी, बल्कि अधिकांशतः वनस्पतियां न पुल्लिग होती हैं न स्त्रीलिंग, बल्कि उभयलिगी होती है। फिर उनका आरक्षण किस प्रकार किया जायेगा? या उन्हें आरक्षण के दायरे में कहां रखा जायेगा?"

चूंकि अभी 'जीवोक्रेसी' का आइडिया बिल्कुल ताजा और अपने शुरूआती दौर में है, इसलिए अभी इस व्यवस्था के बहुत सारे प्रश्नों तथा संभावनाओं पर चिन्तन बाकी है। हॉ, इतना निश्चित है कि यदि राजतंत्र आदिकाल से अट्ठारहवी शताब्दी तक की प्रमुख शासन व्यवस्था रही और डेमोक्रेसी उन्नीसवीं तथा बीसवी शताब्दी की प्रचलित शासन व्यवस्था, तो जीवोक्रेसी इक्कीसवी और उसके बाद की शताब्दियों की सर्वमान्य शासन व्यवस्था होगी।

एक मित्र ने यह लेख पढ़ने के बाद एक विद्वान का हवाला देते हुए कहा कि एक पॉलिटीशियन अगले इलेक्शन के बारे में सोचता है, जबकि एक स्टेट्समैन अगली पीढ़ियों के बारे में सोचता है। निश्चय ही हम सब, जो जीवोक्रेसी के बारे में सोच रहे हैं, भविष्य के विद्वानों द्वारा स्टेट्समैन माने जायेंगे। पोपटलाल जी, जो इन मित्र की बातें सुन

रहे थे, ने कहा, "तुम बहुत बड़ी भूल कर रहे हो। कौन कहता है कि आज का पॉलिटीशियन केवल अगले इलेक्शन के बारे में सोचता है। वह अगली एक नहीं, कई-कई जनरेशन्स, कई-कई पीढ़ियों के बारे में सोचता है। हाँ, यह जरुर है कि वह बेचारा पूरे समाज के भविष्य के बारे में तो नहीं सोच पाता लेकिन अपने परिवार की अगली कई पीढ़ियों के बारे में जरूर सोचता है।" उन मित्र ने कहा, "इसीलिए उन्हें समाज तो स्टेट्समैन नहीं मानेगा, हॉ उनकी भविष्य की पीढ़ियॉ भले ही स्टेट्समैन मानती रहें।"

एक मित्र ने कहा कि डेमोक्रेसी की कमी यही है कि प्रत्याशी लोगों के पास जाता है और कहता कि 'मुझे चुनो। मैं अच्छा हूँ। मुझमें ये-ये खूबियां हैं, अच्छाइयां हैं। मैं तुम्हारे लिए ये-ये कर सकता हूँ।' वास्तव में होना ठीक इसका उल्टा चाहिए। लोग किसी व्यक्ति के पास जायें और कहें कि 'आप के गुण-दोष हमने देखें हैं। हम आपको अच्छी तरह से जानते हैं। आपसे निवेदन है कि आप हमारे प्रतिनिधि बनना स्वीकार कीजिए।' तो जीवोक्रेसी में, डेमोक्रेसी की इस कमी को दूर करने के लिए चिन्तन जरूरी है। सभी जीव स्वेच्छा से किसी को अपना प्रतिनिधि चुनें, न कि कोई प्रत्याशी उनसे चुने जाने की याचना करे।' मैंने कहा, 'यार यही तो सत्ता का मूलमंत्र है। राजसत्ता भी ऐसे ही तो पनपी थी, जब लोग किसी के पास गये थे कि कि आप हमारा प्रतिनिधि होना स्वीकारो। राजसत्ता हाथ में आने पर राजतंत्र में भी और फिर जनतंत्र में भी अपने को सत्ता में लगातार बनाये रखने की कोशिश जारी हो जाती है, भले ही उसके अनुरूप त्याग की भावना और क्षमता न हो। इस परम्परा, इस लोभ, इस लालच से कैसे बचा जाये, यही मूल प्रश्न और मूल उद्देश्य होगा जीवोक्रेसी का। सही व्यक्ति सत्ता के शिखर तक कैसे पहुँचे या कैसे पहुँचाया जाये, इस प्रक्रिया की जो तलाश राजतंत्र से शुरू हुई थी, वह शायद जीवोक्रेसी पर पहुँचकर पूर्णता प्राप्त करेगी।' □

यह हमारा संक्रमण-काल है— भीष्म साहनी

प्रेम जनमेजय

भारतीय साहित्य में भीष्म साहनी को किसी औपचारिक परिचय की आवश्यकता नहीं है। एक सजग और चिंतनशील लेखक के रूप में भीष्म साहनी निरंतर राष्ट्र के सम्मुख उठने वाले प्रश्नों से जूझते रहे हैं। उनके उपन्यास 'तमस' ने साम्प्रदायिकता के सवाल पर लोगों को सोचने के लिए बाध्य किया। आज, जब हम अपनी आजादी की आधी सदी पार कर चुके हैं, ऐसे में इस रचनाकार के विचारों से परिचित होना एक अमूल्य उपलब्धि है। आज हम अनेक सवालों और खतरों के आमने-सामने हैं। प्रेम जनमेजय द्वारा लिए गए साक्षात्कार में भीष्म साहनी ने आर्थिक परिस्थितियों, शिक्षा, साहित्य, फिल्म, भाषा, पत्रकारिता, बदलते जीवन-मूल्यों आदि पर अपने प्रखर विचार व्यक्त किए हैं।

प्रेम जनमेजय : किसी भी देश के इतिहास में पचास वर्षों का समय अधिक नहीं होता है। पर जब हम अपनी आजादी की समग्रता में देखते हैं कि लोगों ने इस आजादी को पाने में बलिदान दिया और जो आजादी आज हम भोग रहे हैं, उसको हमने किस रूप में ग्रहण किया है। इस समय जब हम अपनी स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगांठ मना रहे हैं, तो ऐसे समय में थोड़ा रुककर अपने अतीत की ओर मुड़कर देखना आपको कैसे

लगता है ।

भीष्म साहनी : जब मैं पचास वर्ष पहले कि स्थिति के बारे में सोचता हूं, तो बहुत-सी यादें उभर आती हैं, जो दिल को गहरे में छूती हैं । उस वायुमंडल को याद करते हुए, जब देश आजादी के लिए संघर्ष कर रहा था और हम उसमें जी रहे थे । जाहिर है कि तुलना करने पर मन डरता है । वह समय निश्चय ही बड़े बलबलों का समय था । वायुमंडल में बड़ा जोश था, बलिदान की भावना थी और लाखों-लाख लोग आजादी के संघर्ष के साथ जुड़े हुए थे । हमारे राजनीतिक क्षितिज पर बड़े-बड़े महान व्यक्ति थे, जिनसे बड़ी प्रेरणा मिलती थी । उस माहौल में देश भक्ति के गीत, कुर्बानी के गीत, साहस और बलिदान के गीत गूंजते थे । इस तरह से वह वायुमंडल आज भी बड़ा प्रेरणादायक लगता है ।

प्रेम जनमेजय : आज के वायुमंडल में आपको क्या अंतर लगता है ? अगर वह प्रेरणादायक वायुमंडल आज उपस्थित नही है, तो इसके कारण आपको क्या लगते हैं ?

भीष्ण साहनी : बात यह है कि तब तो मैं जवान था, मेरे अपने दिल में बहुत बलबले उठते थे । अब तो वह बात नही रह गई है । जिदगी ने बहुत कुछ समझाया है, सिखाया है भावुकता बहुत कम हो गई है । और फिर परिवर्तन भी बहुत आया है । जिन महापुरुषों को हम याद करते हैं, आज उस महत्व और गरिमा के नेता बहुत कम नजर आते हैं जो हमें आकृष्ट कर सकें या हमारे जीवन को रास्ता सुझाएं तथा जिनका हम अनुगमन कर सकें । यह एक परिवर्तन मुझे दिखाई देता है । मैं यह समझता हूं कि यह हमारे देश का एक संक्रमण काल है । केवल यह मानना कि हम केवल नीचे की ओर जा रहे हैं, गलत होगा । यों तो देश के इतिहास में प्रत्येक काल- खंड संक्रमण काल ही होता है । परन्तु आज एक बहुत बड़ा मोड़ आया है हमारे आर्थिक सामाजिक जीवन में । आगे भविष्य किस प्रकार से खुलेगा, उसके बारे में सोचते हुए यह काल मुझे संक्रमण काल ही लगता है ।

प्रेम जनमेजय : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमने प्रगति बहुत की है । हम पर हमारे पड़ोसी देश के द्वारा युद्ध थोपे गए, उसके बावजूद भी उद्योग, कृषि आदि क्षेत्रों में हमने बहुत प्रगति की है । परन्तु पिछले पांच-छह वर्षों में हमारे आर्थिक ढांचे में जो बदलाव आया है, जिस तरह से उपभोक्तावादी संस्कृति पनपी, आपकी इस बारे में क्या प्रतिक्रिया है । आप तो

प्रगतिशील विचारधारा के लेखक हैं, आप इस आर्थिक बदलाव को किस रूप में लेते हैं ?

भीष्म साहनी : आपने देश की प्रगति की बात कही, मैं समझता हूं , आपने ठीक कहा। मैं सहमत हूं आपकी बात से कि विभिन्न क्षेत्रों में देश ने प्रगति की है। शायद सबसे अधिक संतोषजनक बात यह है कि हमारे देश की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था जीवित है। हमारे देश के अधिकांश लोग निरक्षर हैं और उसके बावजूद यह प्रजातंत्रात्मक पद्धति बेजान नहीं है, उसमें जीवंतता है।

यह जो नया आर्थिक परिवर्तन आया, जिसे भूमंडलीकरण कहें या फिर कुछ और, उसे देखकर तो यह लगता था कि जैसे पुराना उपनिवेशवाद फिर लौटकर आ गया है। क्योंकि हमने प्रगति तो की है परन्तु फिर भी हमारा देश आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। लगाम अब भी उन बाहर के देशों के हाथ में है, जो समुन्नत देश हैं। कुछ लोग हमारे यहां एकाएक बहुत धनी हो गए और एक असंतुलन हमारी व्यवस्था में आ गया है। यह असुंतलन बेचैन करता है। कीमतों का बढ़ जाना, रिहाइशी मकानों का न मिल पाना; इस तरह का बोझ और मजबूरियां बढ़ गई हैं। मध्यवर्ग की हालत जब खराब है, तो गरीबों का क्या हाल होता होगा ? लेकिन मुझे बताया जाता है कि यह एक विवशता थी हमारे देश के सामने। यदि समुन्नत देशों के साथ हम न जुड़ते तो देश के लिए एक बहुत बड़ा संकट पैदा हो जाता। मैं नही कह सकता कि इसका भविष्य क्या होगा। देश उद्योग-धंधों में प्रगति तो करेगा पर कितना स्वतंत्र रह पाएगा या हमारे जन-साधारण का जीवन स्तर कहां तक ऊंचा हो पाएगा, इस बारे में मैं कुछ नही जानता।

प्रेम जनमेजय : अभी आपने मध्यवर्ग की बात की, मुझे लगता है कि इस वर्ग में जो अर्थ- संस्कृति पनप रही है, उससे इस वर्ग की प्राथमिकताएं बदल गई हैं। इस वर्ग ने जैसे-जैसे अपनी भौतिक सुविधाएं बढ़ाई हैं, उसने अपनी परेशानियां भी बढ़ा ली हैं। इधर जीवन-मूल्यों में भी एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। इन परिवर्तनों का आप क्या कारण मानते हैं ?

भीष्म साहनी : मैं सहमत हूं कि जैसी संस्कृति आजकल पनप रही है, वह हमारे सांस्कृतिक-मूल्यों से मेल नहीं खाती। मैं टेलीविजन की बात कहूं। हमारे यहां एक प्रवृत्ति पनपने लगी थी कि हम अपनी सामाजिक

समस्याओं के बारे में, सरोकारों के बारे में, यथार्थ के आधार पर फिल्में बनाने लगे थे। वे फिल्में लोकप्रिय भी होने लगी थीं और हमारी वास्तविक स्थिति के बारे में सचेत भी करने लगी थीं। अनेक कुशल निर्देशक और कलाकार इस दौर में आए थे, इस दौर को हम न्यू-वेव भी कहते हैं। अब स्थिति यह है कि जिस तरह के कार्यक्रम टेलीविजन पर दिखाए जाते हैं, उनका मूल स्वर मनोरंजन होता है तथा हमारा दृष्टि-क्षेत्र बदल रहा है। हमारे सरोकार, हमारी चिंताएं, हमारी संस्कृति वह नही है। हमारी जीवन की वास्तविकता की झलक इन कार्यक्रमों में नही मिलती है, हल्का-फुल्का मनोरंजन खूब मिलता है। यह एक जानबूझकर लाई गई तब्दीली है। यह बड़े खेद की बात है। अगर हम केवल यह मानकर चलेंगे कि टेलीविजन केवल हमारा मनोरंजन ही करेगा तो एक सशक्त विधा का यह एक अधूरा प्रयोग होगा। इसी तरह से उपभोक्ता वस्तुओं का प्रदर्शन और प्रलोभन दिखाना, हमारे जीवन-मूल्यों, हमारे सांस्कृतिक-मूल्यों से, जहां सादा जीवन उच्च विचार को महत्व दिया जाता है, उससे अलग है। इसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र पर पड़ता है। मैं यह नही समझता इस सबके सामने हम उखड़ जाएंगे। हमारी संस्कृति इतने छिछले जल में नही कि हमारे पांव उखड़ जाएंगे। जो सदियों के प्रभाव जिनसे हमारी मानसिकता पनपी है, वे बहुत गहरे हैं। मैं रुढ़ियों की बात नहीं करता मैं तो उन स्वस्थ मूल्यों की बात कर रहा हूं जो हमारी परम्परा, हमारी संस्कृति में आए हैं। इन सबसे हमारे राष्ट्र का एक सांस्कृतिक व्यक्तित्व बनता है। हमारा देश एक शान्तिप्रिय देश और इस मानसिकता के पीछे हमारे मनीषियों की, हमारे चितकों की और हमारे कवियों की देन है, जिसने हमारे चितन को सदियों तक प्रभावित किया है। इसी तरह एक सांझेपन की जो संस्कृति है, आदान-प्रदान की संस्कृति; यह भी हमारे जीवन-दर्शन का एक महत्वपूर्ण मूल्य है, हमारे जीवन का अंग है। मैं नही समझता कि इस सबके होते हमारे पांव जल्दी उखड़ जाएंगे और इन मूल्यों में हम अपना विश्वास खो देंगे। लेकिन खतरा जरूर है और यह एक बहुत बड़ा खतरा है।

प्रेम जनमेजय : भीष्म जी, आप एक उत्कृष्ट साहित्यकार के साथ-साथ एक कुशल प्रध्यापक भी रहे हैं और शिक्षा जगत को आपने बहुत नजदीकी से देखा है। एक समय वह था जब आप स्वयं पढ़ते थे, फिर आपने

दिल्ली विश्वविद्यालय के जाकिर हुसैन कालेज में पढ़ाया और आज जब आप सेवा विमुक्त हो चुके हैं, इन तीनों स्तरों पर आपने शिक्षा जगत का रूप देखा है। आज प्राध्यापक शिकायत करते हैं कि छात्रों में पढ़ने की रुचि समाप्त हो गई है और छात्र यह शिकायत करते हैं कि प्राध्यापकों की पढ़ाने में रुचि समाप्त हो गई है। आपको क्या लगता है कि कमी कहां है ?

भीष्म साहनी : प्रेम जी, इस प्रश्न का उत्तर आपने अपने प्रश्न में ही दे दिया है। यह समस्या भी कुछ हद तक आज की उपभोक्तावादी संस्कृति से जुड़ती है। मैंने अपने अनुभव से देखा कि आमतौर से कॉलेज में पढ़ने वाले लड़के मध्यवर्ग से आते हैं। जिनके पिता का अपना व्यापार है, वह पढ़ाई में संजीदा नहीं होते। वे खेल-तमाशे में ही लगे रहते हैं। इनकी प्राथमिकता पढ़ाई की नही होती। इन लोगों से वातावरण बिगड़ता है। मध्यवर्ग के जहीन लड़के, जो अपना भविष्य बनाने के लिए शिक्षा ग्रहण करने आते हैं, उनको इस वातावरण से नुकसान पहुंचता है। दूसरे, आज का जो राजनीतिक माहौल है, उसका असर भी स्कूल कॉलेजों पर पड़ा है। हमारे राजनीतिक लोगों ने इस बात को नही समझा कि अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए इनका बेजा इस्तेमाल न किया जाए। इससे शिक्षा संस्थानों को बहुत नुकसान पहुंचा है। शिक्षा की ओर ध्यान देने की बहुत जरूरत है। शिक्षा के आधार पर ही देश प्रगति कर सकता है। शिक्षकों में एक प्रकार की उदासीनता आ जाए, छात्रों में भी आ जाए तो मैं समझता हूं कि हमारा समूचा राष्ट्र इससे नुकसान उठाएगा।

प्रेम जनमेजय : इस आधी सदी में साहित्य-क्षेत्र को आप किस रूप में देखते हैं ? इस बीच जो परिवर्तन हुए हैं, उनको आप किस रूप में देखते हैं ?

भीष्म साहनी : मैं परिवर्तनों को सकारात्मक रूप में देखता हूं। मेरा अनुभव ऐसा नही है कि इन परिवर्तनों को मैं नकारात्मक कह सकूं। यह सही है कि उस जमाने में निश्चिय ही हमारे साहित्य के विकास की एक दिशा थी। देश के संघर्ष के साथ लेखक भावनात्मक रूप से जुड़ता था। एक तड़प और उद्वेग के साथ कहानियां और कविताएं लिखी जाती थी। प्रेमचंद का बहुत-सा साहित्य इसी स्वर का साहित्य है। फिर एक और तब्दीली आई, प्रेमचंद के ही लेखन में, यथार्थ को महत्त्व दिया जाने लगा और प्रेमचंद ने अपने लेखन को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा।

इस प्रवृत्ति ने बहुत लोगों को प्रभावित किया और हमारा लेखन समाजोन्मुख होने लगा। ऐसा साहित्य रचा जाने लगा, जो कलात्मक स्तर पर हमें आकृष्ट करे और साथ-ही-साथ हमें सचेत करे। मैं यह नहीं मानता कि एक काल में एक ही तरह का साहित्य लिखा जाता है, बहुत सारी प्रवृत्तियां एक साथ चलती हैं। आत्मकेंद्रित साहित्य भी लिखा गया है, समाजोन्मुख साहित्य भी रचा गया है। मैं इतना जरूर मानता हूं कि लेखक का संवेदन अपने परिवेश से प्रभावित होता है, परिवेश से टकराता है और यदि वह परिवेश जटिल हो जाए, तो जाहिर है कि लेखक भले ही कितना आत्मकेंद्रित क्यों न हो, उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि आपके परिवेश में सांप्रदायिकता, भुखमरी जैसी राष्ट्र को आक्रांत करने वाली विकट समस्याएं हों, तो यह संभव नही कि लेखक उनसे अलग-थलग एक दृष्टा बन कर बैठा रहे। परन्तु अभिव्यक्ति कैसी होगी, यह लेखक के अनुभव, उसकी प्रतिभा और उसके संवेदन पर निर्भर करता है।

प्रेम जनमेजय : लेखक से एक और व्यक्ति जुड़ता है, पाठक। क्या आप समझते हैं कि पिछले पचास वर्षों में पाठक की सोच में कोई अंतर आया है, उसके व्यवहार में कुछ परिवर्तन हुआ है? उसका पढ़ना कम हो गया है ?

भीष्म साहनी : निश्चित ही पाठक का पढ़ना कम हो गया है। मैं और भाषाओं के बारे में ज्यादा नहीं जानता पर हिदी, जो सात प्रदेशों की भाषा है, उसमें तीन हजार का संस्करण चार साल में बिके, इससे तो यही जान पड़ता है कि पाठक बहुत कम हैं।

प्रेम जनमेजय : देश की जनसंख्या तो बढ़ी है पर पाठकों की जनसंख्या नहीं बढ़ी है।

भीष्म साहनी : ठीक कहा आपने, फिर मुझे यह भी लगता है कि हमारे समाज ने साहित्य को अपनाया नहीं है। उसने अपने लेखकों को नहीं अपनाया है। साहित्य हमारे दैनिक जीवन का अंग नहीं है। बहुत कम लोग हैं, जिनको इसमें रुचि है। हमारे यहाँ पठन-पाठन का शौक अधिक नही है। एक और प्रवृत्ति हमारे यहां पाई जाती है कि हम अंग्रेजी से तुलना करने लगते हैं। हम अपने देश के जीवन के बारे में लिखते हैं, अपनी भाषा में लिखते हैं और अपने मुहावरे में लिखते हैं, इसमें हमारे लोगों को रस मिलता है।

प्रेम जनमेजय : साहित्य के पाठक तो कम हो रहे हैं पर क्या हिंदी के पाठक भी कम

हो रहे हैं ? जिस तरह से दिल्ली में ही हिंदी के अखबारों की संख्या बढ़ी है, सात-आठ राष्ट्रीय स्तर के अखबार यहां से निकल रहे हैं, तो क्या हिंदी के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी है ?

भीष्म साहनी : रुचि नहीं बढ़ी है। हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाएं कम हुई हैं। जिस व्यापक स्तर पर और लोग अपने साहित्य की चर्चा करते हैं, उससे उद्वेलित होते हैं, उसमें रस लेते हैं, ऐसा हमारे यहां बहुत कम है। आपको ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हों।

प्रेम जनमेजय : एक सवाल आज की पत्रकारिता को लेकर। क्या आपको नहीं लगता है कि आपके समय की पत्रकारिता और आज की पत्रकारिता में एक बहुत बड़ा बदलाव आया है ? आजकी पत्रिका ऋणात्मक अधिक है ?

भीष्म साहनी : आपने ठीक कहा, आजकल सनसनी फैलाने वाली पत्रकारिता ही रह गई है।

प्रेम जनमेजय : आपने पहले फिल्मों की बात करते हुए न्यू-वेव सिनेमा की बात कही थी। आज के हिंदी सिनेमा के प्रभाव की यदि बात करें, तो क्या आपको नहीं लगता है कि आज सिनेमा का युवा पीढ़ी पर बहुत अधिक ऋणात्मक प्रभाव पड़ रहा है। जिस तरह का सिनेमा हमारे सामने आ रहा है, उसने हमारी युवा पीढ़ी के सोचने-समझने की शक्ति सीमित कर दी है और उसके जीवन से सही चितन गायब हो गया है ?

भीष्म साहनी : मेरे सम्पर्क में युवा पीढ़ी के बहुत कम लोग आ पाते हैं, इसलिए उनकी मानसिकता के बारे में दो-टूक बात कर पाना मेरे लिए कठिन है। युवकों में भी तरह-तरह के लोग हैं। कुछ जीवन को गम्भीरता से लेते हैं और कुछ इसे मौज-मस्ती के रूप में लेते हैं। अपनी युवावस्था के साथ इस पीढ़ी की तुलना करना मैं उचित नहीं समझता क्योंकि हर पीढ़ी का अपना वायुमंडल होता है, उसकी अड़चनें, समस्याएं अलग होती हैं।

प्रेम जनमेजय : आपने अपने समय के और आज के भिन्न वायुमंडल की चर्चा की, अनेक खतरों की भी चर्चा की। आजादी पाने से अधिक कठिन उसको बचाए रखना होता है। क्या आपको लगता है कि इन तमाम खतरों के बावजूद क्या हम अपनी आजादी को बचा पाएंगे ?

भीष्म साहनी : खतरे तो बहुत बड़े हैं और कभी-कभी मुझे लगता है कि बड़े भयानक खतरे हैं—देश की बढ़ती आबादी का खतरा, निरक्षरता का खतरा, संसाधनों का अपर्याप्त होना और आर्थिक विकास का तेजी से न बढ़ना। पर मुझे देश के जनसाधरण पर विश्वास है, वह बहुत जागरूक है। तमाम झगड़ों और विवादों के बावजूद हम एक-दूसरे से जुड़ते, अपनी देश की नियति और प्रारब्ध के साथ जुड़ते हैं। तरह-तरह की समस्याएं हैं और बड़ी गंभीर समस्याएं हैं। आतंकवाद भी एक बहुत बड़ी समस्या है, साम्प्रदायिकता की समस्या है और ये सब हमारे संसाधनों को कमजोर बनाती हैं। लेकिन फिर भी, मैं यह समझता हूं कि हमारे देश की मानसिकता एक 'सांझेपन' की ओर है और देश के उज्ज्वल भविष्य के साथ जुड़ना चाहती है। इस संक्रमण काल को हम पार कर जाएंगे और देश एक उज्जवल भविष्य की ओर अग्रसर होगा।

□

विजय किशोर मानव

कविता को संवेदना के धरातल पर गहरे अभिव्यक्त करने वाले कवि विजय किशोर मानव की कविताएं पढ़ने के बाद उनके दीर्घकालिक प्रभाव से मुक्त होना कठिन है। मानवीय संबंधों के असंबंध पर उनकी तीन कविताएं गगनांचल के पाठकों के लिए विशेष रूप से प्रस्तुत हैं।

अ-संबंध-एक

मेरे भीतर औरत तैरती है
समूची औरत
उसकी उफनती देह से
झरता पराग
पूरे दिन के रेशे-रेशे को
पागल बनाता
जिन्दगी को सम्मोहित करता,
कमजोरी नहीं मेरी
ताकत बनता है
तब जब उसका पूरा मन
मुझ पर बिछा होता है

अकेले में बैठा गुदगुदाता मन
पूरा डुबो लेता है अपने आप में,
कमल और भौरें की
इस कथा में
अनुपस्थित रहती है देह,
और जब देह से गहरी बातें होती हैं

तब भी
रहता है मन समूचा उपस्थित
तुम्हारी देह से कई बार
बातें कीं छुआ मन को
तरह-तरह से, देह की तरह,
वर्षों के लिए उतारकर फेंक दी देह
तो भी रखा है पूरा मन सहेज कर
भीतर सबसे सुरक्षित कोने में,
आज भी जब तुमने
माँग लिया है वापस सब कुछ-
मेरी भोगी देह और
मेरा जिया मन

तुमने मेरा तन ही लिया था शायद
उसे ही सहेजने की कोशिश की
भरा तो मन को भी अंगुरी में
लेकिन झर गया रेत की तरह
उँगलियों के बीच की दरार से,
और तन कितना भी सहेजने पर
किसी का नहीं होता

कामयाबी की/खुशियों की जखीरेबाजी
की ख्वाबगाह में-
तुम्हारे तन के लिए
एक तन तलाशती,
सुरक्षा के लिए
एक रिश्ता खोजती,
तुम्हारे भीतर भरपूर है
एक औरत की भटकन

कभी नहीं चुकेगी यह,
रिश्ते की सीमा में आकर भी

तुम उसे तोड़ोगी जरूर,
उसके पार जाओगी
अपनी माँ की तरह,
उसकी माँ की तरह
और उसकी भी माँ की तरह
जो सिर्फ पुरुष की देह
और उसकी बेमानी सुरक्षा की तलाश में
खो गई झुर्रियों में-
तुम्हें और कइयों को जनकर

प्रेम में पागल औरतें
तुम्हारे जैसी
क्यों नहीं तलाश पाती मन

अ-संबंध-दो

सीढ़ी पर बोझ नही पड़ता
जब कोई पैर रखता है
पहले डंडे पर
किसी को ऊँचाइयाँ दिलाने
ऊपर उठाने की हुलस
भुला देती है छिले कंधों का दर्द
मगन हो जाती है सीढ़ी
पालने में अपना कर्तव्य-बोध
खड़ी रहती है बिना उफ किये
चढ़ते जाते हैं पैर
एक...दो...तीन... आखिरी डंडे तक
छत पर खड़े/ अपने कद का
उँचाई का ऐलान करते चेहरे
पैर टिकाए
एक नई सीढ़ी के पाये पर
अगली नई ऊँचाई की यात्रा की हवस में

दिखते हैं दंभ का परचम लहराते
सीढ़ी—पहली सीढ़ी का
मोहभंग होता है तब
जब इस्तेमाल किये जाने का सच
जानती है वह
खुद को बौना महसूस करती है;
टीसते हैं उसके कंधे
हर पैर महसूस होता है उसे
अपनी दुखती देह पर,
अंग-अंग पर
सीढ़ियाँ देखा करती हैं टुकुर-टुकुर
हिकारत छिड़कते चेहरे
खड़े हो जाते हैं तनकर अगली सीढ़ी के सर पर
सीढ़ियॉ वही खड़ी रहती हैं चुपचाप
एक सीढ़ी मुस्करा पड़ती है जब चुपचाप आकर
उस पर चढ़ने लगता है एक नया पॉव
एक अदद चेहरा अपने ऊपर लादे।

अ-संबंध-तीन

अंधेरे पर पहले-पहल
टिकी नजर
देर तक कोशिश करते हुए
उसमें झांकने की,
टटोलना, छूना उसे
एक सिहरन भर गया
मेरे भीतर,
बहने लगा कहीं कुछ

लगा पहली बार
उजाला होता है अंधेरे में,

उजाले का एक अजस्त्र झरना
झरता है, भिगोता/
सम्मोहित करता है-रातों को
दिन से भी ज्यादा,
खुद में डुबो लेता है ऐसे
जैसे वह सिर्फ उजाला हो
कुछ सुध नहीं रहता...
सुबह, दोपहर और शाम
धूप और छाँह का फर्क

पर जब सच
खुलता है सुबह-सुबह आँख खुलने पर,
छोड़कर भागता है अँधेरा
पोत कर एक घुप्प अँधेरा
समूचे उजाले पर,
आँखें भूल चुकती हैं देखना,
हाथ टटोलते कुछ खोजते हैं
छूने को
और
अँधेरा हँसता है
किसी और को आगोश में लेता
अपने लिए उजाले, और बड़े उजाले तलाशता ☐

डॉ. सुनीता शर्मा

शब्दों में हृदय की सत्य अनुभूति को अभिव्यक्त करना मूल उद्देश्य मानने वाली युवा कवयित्री।

रस्साकस्सी

अक्सर
मैं भूल जाती हूँ
कि मैं हूँ।
कुछ विचारों
कुछ मानदण्डों
कुछ शब्दों
में मुझे
दफनाने की
चेष्टा की जाती है जबरन
यह जानते
हुए भी
कि मैं हूँ।
अक्सर
जब मुझे लगता है
कि मैं नहीं हूँ
तब लगता है
कि
यह स्वीकार है
इस सत्य का
कि
सब कुछ
समाप्य है
सब कुछ को

नष्ट होना है
किन्तु
जब प्रयास किये जाते हैं
मुझसे मुझे छीनने के
तब
मेरे भीतर करवट लेता है
एक सुषुप्त संस्कार
और मैं
जागकर कहती हूँ
कि मैं हूँ
मेरे इस
होने न होने की
रस्साकस्सी में
बहुत कुछ झरता रहता है
टूटता रहता है।
विध्वंसों के
ढेर पर
बैठकर
मैं फिर
सोचती हूँ
कि
क्या मैं हूँ
अगर मैं हूँ
तो क्यों हूँ
अगर मैं
न होती
तो अन्तर था
अगर मैं हूँ
तो भी
क्या विशेष है ? □

हरिशंकर 'आदेश'

भारतीय संस्कृति दर्शन, धर्म, साहित्य, संगीत आदि में कार्यरत। कविता के पचास से अधिक संकलन। प्रवासी हिंदी भूषण पुरस्कार से सम्मानित।

प्रवासी की पाती

हमको कहो न अवसरवादी,
हम भी भारत की सन्तान ॥
पुण्य किए या पाप किए थे,
शुभाशीष या शाप लिये थे ॥
भारत के आँचल में जन्मे,
विधि ने कितने ताप दिये थे ॥
भारत माता की गोदी में,
पाया है हमने भी ज्ञान ॥
कहूँ भाग्य का धुँधला दर्पण,
विदेश आने का आकर्षण।
ज्ञान और विज्ञान-अध्ययन,
अथवा जीविकोपार्जन कारण।
हम न स्वयं ही उत्तरदायी,
हमको लाया है भगवान ॥
भारत की नित नई समस्या,
बढ़ती जाती है जन-संख्या।
मुद्रा-स्फीति, भूख-बेकारी,
विद्वानों की व्यर्थ तपस्या।
इतनी होड़ लगी भारत में,
हमें न मिल पायेगा स्थान ॥
कर विदेश में गहन अध्ययन।

भारत जाकर किया नवसृजन,
हुआ आधुनिकतम स्तर पर अब,
भारत ने छू लिया है गगन ।
अणु-परमाणु प्रयोगशालाएँ,
देतीं जिसका ठोस प्रमाण ।
भारत के सांस्कृतिक-दूत हम,
भारत के वाणिज्य-दूत हम ।
सच्चे राजदूत भारत के,
भारत के सच्चे सपूत हम ।
जितनी आस्था हम रखते हैं,
रखे न पूरा हिन्दुस्तान ॥
भारत का विदेश में बल हम,
हैं वैदेशिक नीति सफल हम ।
हम ही सच्चे मित्र हर तरह,
हम हैं 'आज' और 'कल' भी हम ।
अपने त्याग और तप से,
करते संवृद्ध भारत का मान ॥
मोह-भार कैसा होता है ?
स्मृति-संसार कैसा होता है ?
हमसे पूछो मातृभूमि का,
बन्धु ! प्यार कैसा होता है ?
रहते तन निश्चय ही यहाँ,
मगर रहते भारत में प्राण ॥
सन्तति को तज जा न सेकंगे,
भारत वापस आ न सेकंगे ।
मिले नागरिकता यदि दुहरी
सुख से जी और मर सकेंगे ।
सांस-सांस से ही निकलेगा,
जय भारत ! जय हिन्दुस्तान ॥ □

उर्मिला मेहता

अपनी संवेदनाओं को शब्दों में पिरोकर उसे लयात्मक अभिव्यक्ति देना एक कठिन कर्म है। साहित्य के विस्तृत गगनांचल में उड़ान भरने को अनेक उत्सुक रचनाकार पंखों की तलाश में रहते हैं। गगनांचल उन्हें उड़ान की एक भूमि ही दे सकता है।

अपना सूरज

खिड़की की सन्ध से झाँकता सूरज
छोड़ रहा धूप का टुकड़ा मौजेक की फर्श पर
पास बैठी मुनिया देख रही धूप का घेरा
अचानक, अपनी नन्ही हथेली को धर दिया फर्श पर
और उसने मुट्ठी में बन्द कर लिया सूरज
दौड़ पहुँची माँ के पास
"मैंने पकड़ा है सूरज।"
मुट्ठी दिखलाई खोल,
यह क्या। खो चुका था उसका सूरज,
गोरी हथेली थी खाली,
हैरान, परेशान मुनिया बोली,
"मैंने तो मुट्ठी में बन्द कर लिया था सूरज,
फिर कैसे खोया मेरा सूरज !"
और बड़ी-बड़ी भोली आँखें
टपकाने लगी आँसू मोती के दाने से

कैसे कहे माँ नन्हीं मुनिया से
"बेटी भाग मत परछाइयों के पीछे,
सब है छलना।"

कैसे कहे कि आकाश के तारे तोड़ना
पानी में चाँद पकड़ना
और इन्द्रधनुष के रंगों से सपने रंगना,
सब है छलना

कैसे कहे- "बेटी बालू का घर मत बना,
बात मान मेरी, परियाँ होती नहीं
उनका देश है कहीं नही।"
टेढ़ा ही सही, अपने हाथों ही,
बना अपना सूरज
और, काँटों भरी डाली पर
मुसकुराते गुलाब से,
मुसकुराना सीख !

कैसे कहे वह- "मुनिया तो अभी है छोटी,
गुड्डे गुड़ियों की दुनिया में है खोती।" □

ज्योति खरे

युवा कवि, व्यंग्यकार। विभिन्न क्षेत्रों की विसंगतियों तथा मानवीय संवेदनाओं का चित्रण कविता का मुख्य विषय।

होना तो कुछ चाहिये

इस जमीन पर
जहाँ आदमी रहते हैं
कुछ तो नया
और नया होना चाहिये
कुछ तो होना चाहिये—
चाहिये हमेशा सुगंधित हवाओं का बहना
खुशहाल डालियों का झूमना
बनी रहनी चाहिये
बासंती अल्हड़पन की दीवानगी
घास जो गर्मी में सूख जाती है
हमेशा हरी-हरी रहना चाहिये
होना तो कुछ चाहिये—
चाहिये आदमी को गीत
बांसुरी के स्वर
कोमलों की आवाजें
जीवन का मनोहारी संगीत
'इस धरती पर है कितना कुछ
शहर, गांव, खेत, बाग, नदी, समुद्र
रेगिस्तान, जंगल, पहाड़
पंछी, पशु, मौसम, कोलाहल, प्रेम, आंसू
खिलवाड़
इन सबमें कहीं

कुछ नया, नया होना चाहिये—
अब भी चाहते हैं लोग
कोहरे को छूकर देखना
ओस की बूंदों को मोती-सा गूंथना
चिड़ियों को सदेह निकट से देखना

कुछ कहना बतियाना—
पहाड़ का दुख, रेगिस्तान का दर्द
जंगल की मस्ती, नदी की दौड़
आंसुओं की वजह, प्रेम का परिचय
किताबों से, शब्दों से परे लोग
जानना चाहते हैं
नये सिरे से, नये रंग ढंग से
आदमी को चाहिये बस आदमी—
बच्चों में जैसे आ गया है सयानापन
यह नयापन कुछ ऐसा होना चाहिये
कि,
बूढ़ों में दीखे बचपन
सुंदर लड़कियां ही नही
कूदती, उछलती दीखनी चाहिये
पोपले मुँह वाली वृद्धाओं में
जवानी की खनकदार हंसी
इन्द्रधनुषी रंगों के परिचित पुरानेपन से
सभी परिचित हैं
अब,
नया रंग, नया कैनवास, होना चाहिये
होना तो कुछ चाहिये— □

जसवन्त सिंह माथुरी

युवा कवि। जीवन को एक लय के साथ अपनी कविता में बांधने में प्रयत्नशील।

भारतीय बढ़ई

एक दिन प्रातःकाल,
एक बढ़ई सुन्दर-सुन्दर खिलौने बना रहा था।
तभी एक बच्चे ने,
उस बढ़ई से पूछा,
ये क्या बना रहे हो ?
बढ़ई ने उत्तर दिया।
ये, मैं सुन्दर-सुन्दर खिलौने बना रहा हूँ।
बच्चे ने मीठी बोली में कहा—
ये खिलौने किसके लिये बना रहे हो ?
बढ़ई ने उत्तर दिया।
बच्चे ! ये खिलौने उन बच्चों के लिये बना रहा हूँ।
जिनकी फूलों जैसी मुस्कान हो।

अगले दिन दोपहर को बढ़ई एक सुन्दर-सा
सिंहासन बना रहा था।
तभी एक नौजवान उधर से गुजर रहा था।
उसकी नजर उस बनते सिंहासन पर पड़ गई।
वह वास्तव में, बहुत सुन्दर सिंहासन था।
नौजवान ने रुककर, उस बढ़ई से पूछा,
भाई ! ये क्या बना रहे हो ?
बढ़ई ने उत्तर दिया।
भाई, मैं सिंहासन बना रहा हूँ।
ये सिंहासन किसके लिये बना रहे हो ?

बढ़ई ने निःसंकोच उत्तर दिया।
यह सिंहासन उस नौजवान के लिये है,
जो इस पर बैठकर सच्चा न्याय करेगा।

कुछ दिन बाद, सायंकाल,
बढ़ई एक अर्थी बना रहा था।
तभी एक बहुत ही कमजोर बूढ़ा व्यक्ति
वहाँ से गुजर रहा था।
वह थका हुआ था।
वह बूढ़ा व्यक्ति उस बढ़ई के पास आकर
बैठ गया। इसलिये, शायद थोड़ा-सा आराम हो जाए!
तभी, उस बूढ़े ने धीमी नजर से देखते हुए
बढ़ई से पूछा, भाई ये क्या बना रहे हो?
बढ़ई ने उत्तर दिया।
भाई! मैं ये अर्थी बना रहा हूँ।
ये अर्थी किसके लिए बना रहे हो?
बढ़ई ने उत्तर दिया,
अर्थी सत्य का प्रतीक है।
यह अर्थी उनके लिये है।
जिनकी सच्ची मृत्यु होगी। □

अरुणाचल के महर्षि

विष्णु प्रभाकर

जीवन यदि यात्रा है तो उस यात्रा के कुशल अन्वेषी हैं भारतीय साहित्य के प्रख्यात रचनाकार विष्णु प्रभाकर। जीवन के अनंत मार्ग में मिलने वाले चरित्र उनकी रचना का हिस्सा बनकर जीवंत हो जाते हैं। अरुणाचल के प्राकृतिक अंचल के एक ऐसे ही अभूतपूर्व व्यक्तित्व को विष्णु जी ने अपनी आत्मीय शैली मे प्रस्तुत किया है।

श्री रमण महर्षि 14 अप्रैल, 1950 की रात्रि मे उन्ही के शब्दो मे "शरीर की पीड़ा से मुक्त हो गये।" वे मृत्यु को "दीर्घकालीन निद्रा मात्र" मानते थे। "मृत व्यक्ति वास्तव में सुखी है", ऐसा उन्होने लिखा है। उन्होने ही क्यो, प्रत्येक जीवन्मुक्त महात्मा ने इसी सत्य का उद्घोष किया है। मृत्यु जीवन की सम्पूर्णता है। सम्पूर्णता मे दुःख नही हो सकता। उसका धर्म सुख है। उसी धर्म को अरूणाचल के महर्षि ने दिवावसान अर्थात् दिन की पूर्णता के समय प्राप्त किया।

मृत्यु की इसी कल्पना ने एक दिन महर्षि के जीवन को एक नई दिशा दी थी। इस बात को इस प्रकार कहना अधिक ठीक होगा कि मृत्यु की इस कल्पना ने ही कुमार वेकट रमण को रमण महर्षि बना दिया। यह सन् 1896 के मध्य की बात है। तब वे लगभग साढे सोलह वर्ष के थे। यूं तो वे बचपन से ही अन्तर्मुखी रहे हैं, परन्तु उस समय उनके जीवन मे एक अद्भुत परिवर्तन हुआ। उन्ही के शब्दो में यह मदुरा से अन्तिम विदा लेने से लगभग छह सप्ताह पूर्व की बात है, मेरे जीवन मे एक महान् परिवर्तन हुआ। सदा की तरह मेरा स्वास्थ्य ठीक था,

लेकिन अचानक ही मृत्यु के भय ने मुझे जकड़ लिया। मुझें लगा, मैं मरने जा रहा हूं। मैंने एकदम सोचना शुरू किया—मुझे क्या करना चाहिए ? मैंने किसी डाक्टर, बुजुर्ग अथवा मित्र की सलाह लेना उचित नही समझा। मैने अनुभव किया, तत्क्षण ही मुझे स्वयं वह समस्या सुलझानी है। मृत्यु के भय के इस धक्के ने मुझे अन्तर्मुखी बना दिया। मैंने मानसिक रूप से, अर्थात् बिना शब्दो की सहायता के, अपने आप से कहा, अब मृत्यु आ पहुंची है, उसका अर्थ क्या है ? वह कौन है, जो मर रहा है ? यह शरीर मरता है। मैंने एकदम इस स्थिति को अभिनय में पलट दिया। मैंने अपने अंगों को फैलाया और उन्हें कड़ा बनाये रखा, मानो मृत्यु ने उन्हें जकड़ लिया है। मैंने अपनी खोज को वास्तविकता प्रदान करने के लिए शव की नकल की। मैंने सांस रोक कर अपने मुख को बन्द कर लिया। मैंने अपने होठों को इतनी सख्ती के साथ भीचा कि किसी भी तरह का शब्द न निकल सके। तब मैंने अपने आपसे कहा—"यह शरीर मर चुका है। इसे शमशान-भूमि मे जलाकर राख बना दिया जायेगा। लेकिन क्या शरीर की मृत्यु के साथ "मैं" मर गया हूँ। क्या शरीर "मै" है ? यह शरीर शान्त और निश्चल है। लेकिन "मै" तो अब भी अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण शक्ति से परिचित हूं। यहां तक कि "मै" के शब्द को भी अपने अन्दर (शरीर से भिन्न) पहचानता हूँ। इसलिए "मै" शरीर का महत्व बढ़ाने वाली एक आत्मा हूं। पार्थिव शरीर मर जाता है। लेकिन मृत्यु इसका महत्व बढ़ाने वाली आत्मा को नही छू सकती। मैं इसलिए मृत्यु-रहित आत्मा हूँ।

यह सब बौद्धिक कलाबाजी नही थी, बल्कि जीवित जाग्रत सत्य की भांति स्पष्ट और साकार रूप में मैंने इसे देखा। यह कुछ ऐसा था, जिसे लगभग बिना किसी तर्क की सहायता के मैने एकदम समझ लिया। "मै" एक बहुत ही वास्तविक वस्तु थी, उस अवस्था मे केवल मात्र वास्तविक वस्तु। मेरे शरीर से सबंध रखने वाले सभी जाग्रत कार्य उस पर आधारित थे। मै या मेरापन ध्यान के केन्द्र बिन्दु को शक्तिशाली आकर्षण के साथ सम्भाले हुए है। मृत्यु का भय एकदम और सदा के लिए दूर हो गया। उस क्षण से अब तक अपने मे समा जाना बराबर जारी रहा है।

महर्षि की इस स्वीकारोक्ति में ही उनके जीवन का तत्व और संदेश छिपा हुआ है। वह इतना स्पष्ट है कि किसी व्याख्या की आवश्यकता नही है। जिन्होने इस जीवन्मुक्त महात्मा के दर्शनों का सौभाग्य पाया है, वे इस संदेश को मूर्त रूप मे देख चुके है। लेखक उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि एक धर्मभीरु व्यक्ति की श्रद्धा न रखते हुए भी मुझे यह सौभाग्य मिला। मेरी जिज्ञासा, संसार को अधिक-से-अधिक जानने की प्रवृत्ति, ही मुझे वहां खीच ले गई। यह अगस्त, 1947 की बात है। 1947 का यह अगस्त मास भारत के इतिहास में अपूर्व स्थान रखता है। इसी मास मे भारत ने युगों की दासता से मुक्ति पाई और इसी मास मे भारत के मानव ने राक्षस

बनकर भाई के रक्त से होली खेली। इसी मास मे मैं पाण्डीचेरी, रामेश्वरम्, मदुरा और तिरुवन्नमलई आदि तीर्थस्थानों में घूमता हुआ तमिल प्रदेश की यात्रा कर रहा था। उत्तर के तूफान की दक्षिण में कोई सूचना नही थी। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का वहां प्रायः अभाव था। ब्राह्मण-अब्राह्मण, आन्ध्र-तमिल आदि, उनकी अपनी समस्याएं इतनी तीव्र थीं कि उन्हें पंजाब और बंगाल के बंटने की बिल्कुल चिन्ता नही थी। लेकिन यह प्रसंग से बाहर की बात है।

पाण्डीचेरी से रामेश्वरम् और मदुरा होता हुआ मैं तिरुवन्नमलई के लिए चला। मदुरा से हमने 19 अगस्त मंगलवार को प्रातः साढ़े दस बजे विल्लीपुरम के लिए गाड़ी पकड़ी। आकाश में बादल छाये हुए थे और कभी-कभी बूंदे पड़ने लगती थी। मौसम सुहावना था और मार्ग हरा-भरा। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण सौन्दर्य और भी बढ गया था। स्थान-स्थान पर पानी के रिजर्वायर बने हुए थे। मिट्टी लाल थी, स्टेशन पास-पास थे और प्लेटफार्म नीचे। मदुरा नगर में हिन्दी भाषा-भाषी लोग थे। ट्रेन मे भिखारी अक्सर हिन्दी गीत गाते थे। मै खिड़की से बाहर प्रकृति, पुरुष, और पशुओं का निरीक्षण करता हुआ भारत की आन्तरिक एकता पर विचार कर रहा था और गाड़ी चली जा रही थी।

लगभग एक बजे रात हमारी गाड़ी विल्लीपुरम पहुंची। तिरुवन्नमलई के लिए चार बजे चलना था। रास्ता छोटा ही था। 20 तारीख को सवेरे छह बजे के कुछ बाद हम तिरुवन्नमलई स्टेशन पर पहुंचे। यहां भी हल्की-हल्की बूंदे पड़ रही थीं। चारों और हरियाली थी। प्रकृति मन और नेत्र दोनों को सुख पहुंचा रही थी। आश्रम शहर से लगभग एक। मील दूर पहाड़ी के नीचे बसा हुआ है। यही अरुणाचल है। आर्य संस्कृति का जिन आश्रमों मे जन्म हुआ है, जिन तपोवनो में वैदिक ऋचाओ ने स्वर पाया है, उन्ही की पवित्र परम्परा में इस आश्रम का स्थान सुरक्षित रहेगा। यद्यपि वहां पक्के भवन बने हुए हैं, परन्तु चटाई द्वारा निर्मित कलापूर्ण कुटियो का अभाव नही है। अतिथि भवन इसी प्रकार का एक विशाल हाल है। उसी में हम ठहरे। वहां भारत के विभिन्न भागों तथा लंका से आये अनेक बन्धु-बांधव ठहरे हुए थे। वहां के अधिकारी विनयी और कुशल जान पड़े। अभ्यागतों को किसी प्रकार की असुविधा न हो, इसका उन्हे सदा ध्यान रहता था। तत्क्षण उन्होंने हमारे स्नानादि का प्रबन्ध किया और नाश्ते के लिए ले गये। यद्यपि नाश्ते का समय बीत चुका था तो भी विशेष रूप से हमें वह सुविधा दी गई। शायद वहां से लौटते समय मैंने महर्षि के दर्शन किये। श्री अरविन्द की भाति वे एकांत मे नही रहते। आश्रम में वे सबके लिए सभी समय सुलभ है, परन्तु वे बातें बहुत कम करते है। उनकी मान्यता है कि विवाद से नही, मौन रहकर अंतर्मुखी होने से, "अहम्" पर जय पाई जा सकती है।

मुझे स्मरण है, उन्हे देखकर मेरे मन में एक निर्मल भावना का उदय हुआ था। श्री अरविन्द के दर्शन की भांति उनके दर्शन ने मुझे आविर्भूत तो नही कर लिया था तो भी

महर्षि की आकृति में मुझे अपूर्व शान्ति और सरलता के दर्शन हुए थे। उनके पैरो मे पीड़ा थी और उन्हें चलने में कष्ट होता था, फिर भी वे अपना काम यथा नियम करते रहते थे। उन्होंने तब मात्र कोपीन लगाया हुआ था और लकड़ी के सहारे चल रहे थे। उनके पैर फैल जाते थे। उन्हें उस स्थिति में देखकर मुझे दुख होता था। "इस जीवन्मुक्त को यह कष्ट क्यों ?" पर यह तो मायाजाल में फंसे मेरे मन की भावना थी। उनको इस या उस स्थिति की कोई चिन्ता नही थी। उन्होंने अपने को मृत्यु के भय से ऊपर उठा लिया था। उनके नेत्र इस बात के साक्षी थे।

इसके बाद हम लोग प्रार्थना-भवन मे आ बैठे। प्रतिदिन यही पर बैठकर सब लोग ध्यान करते थे। वह एक लम्बा हाल है। उत्तर की ओर पश्चिम दिशा में महर्षि की शय्या लगी थी। वे प्रायः तकिये के सहारे लेटने की स्थिति में बैठे रहते थे। भवन सुन्दर था और जहां तक मुझे याद है, वहां सुभाष और नेहरू के चित्र वाला कैलेण्डर टंगा था। रैक, स्टैंड, घड़ी, मेज, बिजली का पंखा, फोन और रेडियो, इन वस्तुओं को भी मैने वहां पाया। महर्षि सदा मौन रहते हों, सो बात नही। वे आवश्यकतानुसार बीच-बीच मे बाते करते थे। वे अखबार पढ़ते थे और रेडियो सुनते थे। किसी विषय पर चर्चा भी चल जाती थी। जब हम लोग वहां बैठे हुए थे तो एक महारानी भी ध्यान करने आई थी। एक यूरोपियन सज्जन भी थे, जो धोती-कुरता पहनते थे। महारानी के पास धरती पर बैठने के लिए कुरसीनुमा आसन था और पंखा भी, जिसे वह बार-बार हिलाती रहती थीं। उनके साथ महर्षि की काफी बाते हुई थी, पर उनका विषय आज मुझे याद नही रहा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हाल काफी लम्बा था और महर्षि की शय्या के सामने एक निश्चित फासले पर अनेक व्यक्ति वहां बैठे हुए थे, उनमें अनेक जातियो, वर्णो और राष्ट्रों के व्यक्ति थे और अपने मन को समाधिस्थ करने का प्रयत्न कर रहे थे। मुझे याद है, मै जैसे-जैसे प्रयत्न करता था, वैसे-वैसे वासनाए अधिक वेग से जागती थी। यह एक स्वाभाविक स्थिति थी। दूसरे लोगो के विषय मे मै कुछ नही कर सकता, पर एक नवागन्तुक, फिर लगभग नास्तिक जैसे व्यक्ति की अवस्था इससे कुछ दूसरी नही हो सकती। महर्षि कभी बातें करने लगते थे, कभी अखबार पढते थे और कभी ध्यानावस्थित हो जाते थे। मैंने उन्हे ध्यान से देखा—आंखों मे सरलता के साथ अन्तर्मुखी होने की प्रबल भावना है। वीतराग से लगते है। रंग गेहुँआ और बाल सफेद हो चुके हैं। गरदन हिलती है और तकियो के सहारे की आवश्यकता है। ऐसा जान पड़ा, शरीर की उन्हे तनिक भी चिन्ता नही है, बल्कि रह-रहकर वे समाधिस्थ हो उठते हैं। तन्मय होने मे उन्हे रंच मात्र भी परिश्रम नही करना पडता। एक दिन वे इसी तरह समाधिस्थ हो जायेंगे और फिर नही जागेगे। तब शरीर पूर्ण हो जाएगा और साथ ही हम उन्हें पार्थिव आखो से नही देख सकेगे... पर अहम् को जिसने जीत लिया है, उसने ही आत्म-साक्षात्कार किया है।

उसके लिए इस या उस जीवन में कोई अन्तर नही रहता। महर्षि को भी नही था। श्रीं अरविन्द के दर्शन मैंने कुछ क्षणों के लिए किये थे। वे मुझे वात्सल्य से पूर्ण ज्ञानी के समान लगे, पर उनके चारों ओर की महानता ने मुझे दबा-सा लिया। इसके विपरीत महर्षि के चारों ओर मुझे सरलता के ही दर्शन हुए। उनसे बोलने को मेरा मन हुआ पर किसी आध्यात्मिक विषय को लेकर कुछ पूछने की बात नहीं थी, इसलिए बाते न हो सकी। यह अच्छा भी लगा। वाणी ही केवल मात्र आदान-प्रदान का साधन नही है। मौन के सहस्त्र जिह्वाएं होती हैं।

दोपहर को भोजन के लिए उठे और भोजनालय में एकत्रित हुए। महर्षि वहां भी सबके साथ उपस्थित थे। भोजन एक समान और स्वादिष्ट था। चावल, साग, दाल, बड़े, खीर, मट्ठा, ये सब वस्तुएं थी। इनका कोई मूल्य नही लिया जाता था। जाते समय अपनी इच्छा के अनुसार सब लोग कुछ-न-कुछ दे ही जाते थे। मैने यहां भी महर्षि मे कोई आडम्बर नही देखा। स्वाभाविक सरलता से उन्होने सबके साथ खाया। मन को बहुत अच्छा लगा।

संध्या को फिर वही ध्यान करने का क्रम चला। उसमे कोई पाबन्दी नही होती थी। सब लोग इच्छानुसार आ जा सकते थे। वहां मैंने एक श्वेत मोर को देखा। वह बहुत सुन्दर था। वह नियत समय पर आकर मनुष्यों की भांति शान्त भाव से बैठ जाता था। एक गिलहरी की कहानी भी मैंने सुनी थी। कहते हैं, वह रोज नियत समय पर आकर महर्षि की हथेली पर रखे खाद्य पदार्थो को खाती थी। आज भी वह आई और बड़े सहज भाव से महर्षि के हाथ पर रखे पदार्थ खाती रही।

बन्दर वहां बहुत थे और बहुत सुन्दर लगते थे। छोटे, सांवले और चंचल। उनके सिर के बाल स्वाभाविक रूप से दो भागों में ऐसे बंटे थे, मानो किसी ने माग निकाल दी है। वे रह-रहकर प्रार्थना-भवन मे जाते थे। मैंने उन्हे कभी क्रुद्ध होते नही देखा। वे भी उस दिन महर्षि के पास जाकर उनकी हथेली पर रखे फल उठा-उठा कर आराम से खा रहे थे। कैसा तादात्म्य भाव था—नर, पशु, पक्षियो मे।

वहां के अधिकारियो ने हमे पूरे आश्रम मे घुमाया। गोशाला ने हमें विशेष रूप से प्रभावित किया। गायें बहुत ही सुन्दर थी। एक गाय, जिसका नाम लक्ष्मी था बिल्कुल देवी जैसी लगती थी। बताया गया, जब तक महर्षि स्वयं आकर उसके सिर पर हाथ नही फेरते थे, तब तक वह अन्न-जल तक ग्रहण नही करती थी। उसी दिन हमें इस बात का प्रमाण मिल गया। हम प्रार्थना के लिए बैठे ही थे कि एक व्यक्ति वहां आया, बोला, "महर्षि! लक्ष्मी आज मुंह लटकाये खड़ी है। चारा नही खा रही।"

महर्षि एकदम उठे, बोले, "अरे! आज हम से भूल हो गयी। यहां आने से पहले उससे मिल कर नही आये। चलो, चलकर उससे क्षमा मांगते हैं।" और वह गोशाला की

ओर चल पड़े। हम सब भी उत्सुकता वश पीछे हो लिये। वहां जाकर देखा कि लक्ष्मी सचमुच टब के पास मुंह लटकाये खड़ी है।

महर्षि धीरे से उसके पास गये। बड़े प्यार से उसकी गर्दन सहलाई। बोले "हमसे भूल हो गयी। हमें क्षमा कर दो और चारा खाओ।

लक्ष्मी ने गर्दन उठाकर महर्षि की ओर देखा। उसकी आंखें भीग आयी। उसने चुपचाप खाना खाना शुरू कर दिया। कुछ क्षण बाद हम लौट आये। मन एक तरल पवित्रता से विभोर हो रहा था। कैसी अद्भुत उपलब्धि थी।

हमें उसी दिन लौटना था। घर की याद सता रही थी। पंजाब का क्या हुआ? लाहौर किधर गया? दिल्ली शान्त है या नही? ये अनेक प्रश्न तंग कर रहे थे। इसलिए न चाहकर भी हमें उस तपोवन से विदा लेनी पड़ी। चलने से पहले हमने आस-पास के स्थान देखे, प्रकृति की मनोरमता को देखा। वर्षा होने लगी थी और हमें तीन मील जाना था, इसलिए स्वामी जी (महर्षि के भाई) से विदा ली। एक भक्त तांगे में आये थे। उसी को लेकर हम चल पड़े। तांगा आगे बढ़ने लगा और आश्रम पीछे छूटने लगा। मन भी रह-रहकर पीछे दौड़ने लगा। वह शान्त, सरल, ध्यानस्थ मूर्ति रह-रहकर याद आने लगी।

आज उन बातों को लगभग इक्यावन साल बीत गये हैं। महर्षि का पार्थिव रूप अब देखने को नही मिलेगा, न देख पायेगे उन सरल स्नेह पशु-पक्षियों को। परन्तु उन्हीं के शब्दों में देह से पृथक भी वे आज जीते हैं। हां, अब उनसे साक्षात्कार करने के लिए हमें पहले "अहम्" पर विजय प्राप्त करके अपने अन्तस में स्थित परम तत्व का साक्षात्कार करना होगा। □

उत्तर आधुनिकता के विभिन्न संदर्भ

रमेश ऋषिकल्प

देवेन्द्र इस्सर की किताब *"उत्तर आधुनिकताः साहित्य और संस्कृति की नयी सोच"* आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के बहुत से आयामो को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भो में खोलती है। इस किताब की पहली खासियत तो यह है कि यह अपने पाठक को उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को विभिन्न संदर्भो में समझाने में कामयाब है। आज उत्तर आधुनिकता की चर्चा तो बहुत होती है लेकिन उसके सही संदर्भ ठीक से नही समझे जा रहे हैं। सच तो यह भी है कि लोग आज तक आधुनिकता के ही सही संदर्भो को नही पकड़ पाए हैं फिर उत्तर आधुनिकता तो पूरी दुनिया में बेहद जटिल रेशों को हमारे सामने उभार रही है। हमें यह समझने में भी चूक नही करनी चाहिए कि उत्तर आधुनिकता के विचार की हवा जिस ज़मीन से बहनी शुरू हुई है, वह ज़मीन अपनी सोच और उपलब्धियो मे भारतीय ज़मीन से बहुत अलग है। इसीलिए ज़रूरत इस बात की बहुत है कि सबसे पहले हम इन जटिल अवधारणाओ के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भो को ठीक से पहचानें। शायद इसीलिए देवेन्द्र इस्सर ने अपनी किताब का पहला अध्याय "प्रश्न एवं परिदृश्य" का रखा है जिसमे आधुनिकीकरण और उत्तर आधुनिकीकरण से जुड़े हुए बहुत से प्रश्न उठाए हैं। उनके भारतीय और पश्चिमी संदर्भों पर भी वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है। यहां लेखक अपनी दृष्टि मे बिल्कुल साफ है। वह जानता है कि हमारे समक्ष संस्कृति की कई समस्याएं हैं। परंपरागत संस्कृति का नवीनीकरण भी और नयी संस्कृति का पल्लवन भी। सांस्कृतिक क्रांति भी और परम्परा को जीवित बनाना भी। संस्कृति का फ्यूज़न भी और अलग अस्मिता भी। एक स्तर पर पाश्चात्य संस्कृति से सम्बद्धता और दूसरे स्तर पर उससे अपना बचाव भी। इन सभी सवालों को ध्यान मे

रखकर देवेन्द्र इस्सर ने अपनी इस किताब मे उत्तर आधुनिकता पर विचार किया है। सबसे सही बात यह है कि यहाँ पर उत्तर आधुनिकता को सिर्फ बयान भर कर देने की कोशिश नही की गयी है बल्कि तार्किक ढंग से उसकी सभी चारित्रिक विशेषताओं पर चितन किया गया है। साहित्य, जनसंचार, इतिहास, किताब और कम्प्यूटर, विचारधारा आदि सभी नए सवालों से उत्तर आधुनिकता के सोच को विश्लेषित किया है। इसीलिए उत्तर आधुनिकता पर हम यहाँ एक मुकम्मल सोच को समझने मे कामयाब होते है।

अपने दूसरे अध्याय "आधुनिकता/उत्तर आधुनिकता" में आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के रिश्ते को समझने की कोशिश की है, जहाँ हम देखते है कि ज्यां फ्रांस्वा लियोतार से लेकर आलविन टाफ्लर और मिशल फूको तक के सोच को समझने की कोशिश की गई है। पिछले पच्चीस-तीस साल मे पश्चिम में आधुनिकता जिस ढंग से विदा होती जा रही थी और उसके स्थान पर उत्तर आधुनिकता बोध अपनी सम्पूर्ण टेक्नोलॉजी से उत्पन्न होता जा रहा था, वह पश्चिम के विचारकों के लिए एक गंभीर प्रश्न था। पश्चिम का समाज 1920 या 22 से ही अपने अंदर बदलाव को महसूस करने लगा था। आस्वेल्ड स्पेगलर की किताब "*दि डिक्लाइन ऑफ दि वेस्ट*" और टी.एस. इलियट की मशहूर कविता "दि वेस्टलैड" इसीलिए चर्चा के केन्द्र मे रही क्योकि इनमे आधुनिकतावादी पश्चिम अपनी आधुनिकता खो रहा था। समय बदलता जा रहा था। दो विश्वयुद्धों ने पश्चिम के समूचे सामाजिक ढांचे को छिन्न-भिन्न कर दिया था और इस प्रकार शुरू हुई पाश्चात्य सभ्यता के पतन और आधुनिकता के अंत की कहानी, जिसमे पश्चिम का मनुष्य बौद्धिक विलासिता, सांस्कृतिक संशय और टूटते हुए जीवन मूल्यो के बीच हाई-टेक मल्टी मीडिया फ्यूजन और आक्रामक भौतिकता के बलबूते पर ज्ञान, प्रगति, मूल्य, सौंदर्य, सत्ता और मनोरंजन में एक खास प्रकार का समीकरण कायम करने लगा था। देवेन्द्र इस्सर ने इस पूरे परिदृश्य को अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे बहुत अच्छे ढंग से समझा है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस परिदृश्य को समझने मे उन्होने बहुत गहरा अध्ययन किया है और पश्चिम के विचारको को तथ्यो के साथ उद्धृत भी किया है जिससे उनकी इस किताब की प्रामाणिकता भी बहुत बढ़ गयी है। इसका सबसे बड़ा फायदा यह है कि पाठक उत्तर आधुनिकता के विभिन्न स्रोतों तक पहुँच पाता है और भारतीय परिप्रेक्ष्य मे उत्तर आधुनिकता की बहस को समझने की कोशिश करता है। भारतीय व्यक्ति के लिए उत्तर आधुनिकता दो प्रकार से सोचने की चीज है। एक तो उसका अपना परिप्रेक्ष्य है और दूसरा परिप्रेक्ष्य पश्चिम का है। पश्चिम में टेक्नोलॉजी और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने प्रचलित संस्कृति के विरुद्ध एक समानांतर संस्कृति को जन्म देना शुरू कर दिया और कालांतर मे यही संस्कृति उत्तर आधुनिकता की वैचारिक भूमिका बन गयी। देवेन्द्र इस्सर ने ठीक ही लिखा है कि "एकवाद, विश्वजनीनता, केंद्रीयता तथा

परिपूर्णवाद पर आधारित साहित्य, कला एवं संस्कृति के सिद्धांतों पर प्रश्नचिह्न लग गया। इन प्रश्नों और अस्वीकारों की जो बौछार आयी उसने यूरोप और अमेरिका के साहित्य और चितन को अपनी लपेट में ले लिया। भारत मे भी इसकी अनुगूँज सुनायी देने लगी।" इस प्रकार उत्तर आधुनिकता के बोध ने हर उस चितन और व्यवहार को, जिसे स्वाभाविक, सम्पूर्ण, शाश्वत, अंतिम तथा विश्वव्यापी स्वीकार कर लिया गया था, नकार दिया। यानी अब सब कुछ "पोस्ट" हो गया। हर विचार और विचारधारा पोस्ट हो गयी। पोस्ट इंडस्ट्रियलिज्म, पोस्ट कॉलोनियलिज्म, पोस्ट मार्क्सिज्म, पोस्ट स्ट्रक्चरलिज्म, पोस्ट हिस्ट्री, पोस्ट मॉडर्निज्म। अब विचारकों ने इतिहास का भी अत मान लिया। और तो और पोस्ट-पोस्ट मॉडर्निज्म की भी चर्चा शुरू हो गयी। इसी दौर मे ज़ाक देरिदा ने अविरचना (डिकंस्ट्रक्शन) का सिद्धांत प्रस्तुत किया जो उत्तर आधुनिकता के बीज चितन में सबसे ज्यादा काम कर रहा था। देवेन्द्र इस्सर का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि "कुछ भी अब रहस्य के पर्दे के पीछे नही रह गया। सब कुछ रहस्यवाद/परा भौतिकवाद की धुध से निकलकर प्रकट हो गया—"डिमिस्टीफ़ाई" हो गया। ज़ाक लाकां, ज़्यां फ्रांस्वा लियोतार, मिशेल फूको, ज़ाक देरिदा, जूलिया क्रिस्तेवा, ज़ां बोद्रिला और पाल दि मान आदि की प्रारंभिक महत्वपूर्ण टिप्पणियां/पुस्तकें इसी दौर में प्रकाशित हुई। उनके लेखन से जो बौद्धिक और भाषागत परिवर्तन आया उसने साहित्य एवं समीक्षा की प्रस्थापनाओ को बिल्कुल बदल दिया।" असल मे यह बदलाव, बदलाव उतना नही लगता जितना कि पूर्व का नकार या अविरचना लगता है। इसीलिए अविरचना उत्तर आधुनिकतावाद का एक केन्द्रीय समीक्षा सिद्धांत है। उत्तर आधुनिकता अब मनुष्य के केंद्रीय स्थान को भी स्वीकार नही करती। वह व्यक्ति के अस्तित्व को ही नकारती है। यह एक बडी गंभीर बात है। जब हम लेखक या कर्ता को नकारने लगते है तब हमारे पास ऐसा कुछ भी नही रह जाता है जिसे हम रचनात्मकता या सर्जनात्मकता कह सके यानी अनुभव और अनुभूति के जो विभिन्न रूप और विभिन्न आयाम कर्ता के माध्यम से कला, साहित्य और रचना मे दिखाई देते थे, उन्हें जैसे नष्ट कर दिया गया हो और इसके स्थान पर सस्ते मनोरंजन का ढेर बाज़ार मे फेक दिया गया हो। जहाँ सौंदर्यानुभूति को महत्व न देकर बाज़ार के ढग से उसका आकलन होता है। इसी को उपभोक्तावादी संस्कृति भी कह सकते हैं। इस बहुलवादी संस्कृति को हाइटेक कम्प्यूटर और इलेक्ट्रानिक मीडिया के ग्लोबल फ्यूज़न ने सर्वव्यापी बना दिया है। 1968 मे रोला बार्थ ने इसी सोच के तहत लेखक के अंत की घोषणा कर दी थी।

उत्तर आधुनिकता के इस अविरचनावादी सोच से जो सवाल पैदा होता है, वह यह है कि सब कुछ के अत का एलान कर देने के बाद साहित्य, सौंदर्यशास्त्र और सस्कृति के रेडिकल नवनिर्माण की प्रक्रिया मे उत्तर आधुनिकतावाद कौन-सा रास्ता अपनाएगा ?

क्योंकि साहित्य, इतिहास, विचारधारा और लेखक की मृत्यु मान लेने के बाद वह नया क्या है जिसे हम स्वीकार करें ? देवेन्द्र इस्सर ने इसी प्रश्न के संदर्भ में यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या उत्तर आधुनिकता को ही फिर से लिखना तो नहीं है। यह बात 1988 में ज्यां फ्रांस्वा लियोतार ने भी उठायी थी। उसने "रिराइटिग माडर्निटी" में लिखा है कि "उत्तर आधुनिकता का एक नया युग नही है। अपितु वह आधुनिकता के कतिपय तत्वो...... जिन्हें आधुनिकता अपनी विशिष्टताओं मे शामिल होने का दावा करती है- को दोबारा लिख रही है।" देवेन्द्र इस्सर ने इसी संदर्भ मे और भी कई प्रश्न उठाए हैं। ये प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं और सीधे-सीधे उत्तर आधुनिकता के हवाले का पर्दाफ़ाश भी करते है। जैसे देवेन्द्र इस्सर प्रश्न उठाते हैं कि "क्या आधुनिकता, जो बुर्जुवा के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे प्रकट हुई, को हर्बर्ट मारकूज के कथनानुसार पूंजीवाद ने अपने साथ मिला लिया है ? या यह कि जन माध्यमों, सूचना टेक्नोलॉजी, आनंदलिप्सु उपभोक्तावाद, आक्रामक भौतिकवाद और आर्थिक तथा सांस्कृतिक सार्वभौमिकता के कारण जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे आधुनिकता के ही नये दौर को प्रतिबिबित करते है, जिसे उत्तर आधुनिकता का नाम दे दिया गया है ?" देवेन्द्र इस्सर ने इन सवालो के जवाब मे भी कई चिन्तको के विचार भी प्रस्तुत किए हैं। जैसे कि फ्रेडरिक जेमिसन के कथन उद्धृत करते है, जिसमे कहा गया है कि "उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की "केननाइज़ेशन" के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे प्रकट हुई।"

अपनी इस किताब में देवेन्द्र इस्सर ने पॉच अध्यायों के तहत उत्तर आधुनिकता के विभिन्न सदर्भों पर विचार किया है। ये अध्याय है (1) प्रश्न एवं परिदृश्य (2) आधुनिकता / उत्तर आधुनिकता (3) विचारधारा एवं विकल्प (4) संस्कृति और टेक्नोलॉजी (5) और अत मे, आखिर हम साहित्य क्यो पढ़े। इन पॉचो अध्यायो मे हम उत्तर आधुनिकता के उस फैलाव को देखते हैं, जो कला, साहित्य, संस्कृति और मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपना प्रभाव फैलाती जा रही है। यहॉ हमे जहॉ एक ओर उत्तर आधुनिकता के मूल स्रोतो का परिचय होता है वही उत्तर आधुनिकता के बढ़ते और फैलते आयामो की भी जानकारी होती है। देवेन्द्र इस्सर अपने इस अध्ययन मे इस विषय मे लगातार जागरूक दिखाई देते है कि वे कही भी उत्तर आधुनिकता के पक्षधर न माने जाएं। इसीलिए वे लगातार भारतीय संदर्भ में ही उत्तर आधुनिकता पर विचार करते हैं। वे सम्पूर्ण उत्तर आधुनिकता को पूरे अन्तर्राष्ट्रीय सदर्भों मे समझने की कोशिश करते है लेकिन उनके सामने परिप्रेक्ष्य भारतीय ही होता है। इसीलिए जब वे उत्तर संरचनावाद से जोड़कर साहित्य की स्वायत्तता पर बात करते हैं तो वे इस प्रश्न पर आकर गंभीर हो जाते हैं कि हमारा आलोचना शास्त्र अपनी बौद्धिक विरासत को विकसित क्यों नही कर रहा ? असल में किसी भी भारतीय लेखक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपनी ज़मीन से

जुड़कर सोचे। इसीलिए इस्सर जी साफ शब्दों में यह कहते हैं कि "यहाँ पहुँचकर यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण मोड़ ले लेता है कि अब संरचना/उत्तर संरचनावाद पर बहस हो रही है तो भारतीय दर्शन एवं काव्यशास्त्र पर नये सिरे से विचार क्यों नही हो रहा या बहुत कम क्यों हो रहा है ?" इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य पर अन्य भारतीय भाषाओं का क्या प्रभाव पड़ा है। अभी तक हमारा आलोचना शास्त्र यूरोप केंद्रित क्यों है? जबकि यूरोप की संस्कृति के पतन (आस्वेल्ड स्पेंगलर) और उसकी वेस्टलैंड (इलियट) होने की घोषणा इसी शती के प्रारंभिक दशकों में ही हो चुकी थी। इतिहास, जैसा कि यूरोप ने समझा है, उसके अंत का एलान फ्रांसिस फूकूयामा कर चुके हैं। तो क्या यह समय नहीं है कि हम यूरोपीय धुरी की परिक्रमा न करके भारत की बौद्धिक विरासत को विकसित करें ? देवेन्द्र इस्सर का यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। हिन्दी के आलोचकों ने अभी तक आलोचना और समीक्षा के अपने मापदंड ही विकसित नहीं किए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद ऐसा कोई आलोचक नही, जिसने समीक्षा के भारतीय मानदंड विकसित किए हैं। हमारी आलोचना पर या तो मार्क्सवाद हावी रहा या अमेरिका की "नयी समीक्षा" क्योंकि हम तो आज़ादी के बाद से ही अपनी नियति पश्चिम से ही जोड़े रहे। हमारे नेता जवाहर लाल नेहरू ने हमें कभी भारतीय होने ही नही दिया। कई बार लगता है कि आज़ादी से पहले हम ज्यादा स्वायत्त और अपने थे पर आज़ादी के बाद हम सब कुछ बाहर का लेने पर आमादा हो गए जो कि बहुत आसान था। हम पर बाहर की विचारधाराएं शासन करने लगी जबकि पश्चिम के विचारक कलाकार को लगातार सलाह दे रहे थे कि विचारधाराओं के अधीन मत बनो, वे तो आदमी पर शासन करना चाहती हैं। आक्तावियो पाज़ कहते थे कि "विचारधाराएं समाज के चेहरे पर पड़ा हुआ छद्म पर्दा हैं। और यह पर्दा धीरे-धीरे उठ रहा है। विचारधाराओं का युग समाप्त हो रहा है और अब हम यथार्थ को अधिक निकट से देख सकते हैं।" उत्तर आधुनिकता ने भी विचारधारा के अंत की घोषणा की, जिसमें से उत्तर संरचनावादी मार्क्सवाद का विकास हुआ। इससे साहित्य तथा चितन के नए दृष्टिकोण सामने आए जैसे जार्च लूकाच और अर्नेस्ट फ़िशर ने विचारधारा के खतरों से कलाकार को चेताया।

अर्नेस्ट फिशर के मुताबिक कला विचारधारा के विरुद्ध सत्यता की प्रक्रिया एवं स्वीकृति है। इसी तरह हर्बर्ट मारकूज़ भी कहते हैं कि कला विचारधारा के विरुद्ध युद्ध करने वालों में न केवल एक सैनिक की भांति है अपितु अपनी प्रकृति में वह इस कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है क्योंकि सामान्य चेतना तथा प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह उसकी प्रकृति में शामिल है। यह बात मारकूज की इसलिए ठीक लगती है क्योंकि कला हमेशा रेडिकल होती है और आवश्यक रूप से प्रतिरोध तथा शोषण का उन्मूलन उसका प्रयोजन है। इसके अलावा कला परंपरागत चिंतन तथा स्थिर सामाजिक

रिश्तों से स्वतंत्र अपना मार्ग निश्चित करती है । स्वयं देवेन्द्र इस्सर भी यही मानते हैं कि "साहित्य को महज़ यूरोप की विचारधाराओं के तहत समझना ठीक नहीं ।"

किताब के अंत में देवेन्द्र इस्सर ने साहित्य, संस्कृति और टेक्नोलॉजी के सम्बन्ध को उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में समझने की कोशिश की है और इस मुद्दे पर कई नज़रियों से गंभीरतापूर्वक विचार किया है । यह मुद्दा इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि उत्तर आधुनिकता ने शाब्दिक संरचना का अंत मान लिया है । चारों ओर से सुनायी देता है कि "साहित्य विलुप्त हो रहा है" इलेक्ट्रानिक मीडिया समाज को जो सूचनापरक ज्ञान दे रहा है, उसमें मानवीय संवेदना और भावना का उतना महत्व नही है, जितना शब्द में है । लेकिन देवेन्द्र इस्सर का यह मानना बिल्कुल ठीक लगता है कि "प्रश्न टेक्नोलॉजी पर किसी प्रकार के प्रतिबंध का नही बल्कि मनुष्य और मशीन की अंतः प्रक्रिया को समझने की आवश्यकता का है ।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि ज़रूरत इस बात की है कि हम आधुनिक संदर्भों में नयी टेक्नोलॉजी का उपयोग करने का विवेक जाग्रत करें, जिससे मानव जीवन में विकास की एक नयी प्रक्रिया शुरू हो सके । हम टेक्नोलॉजी को नकार नही सकते बल्कि वह तो मानव मस्तिष्क की एक उपलब्धि है । देवेन्द्र इस्सर ने यह बात एच.ई. एफ. शुमाकर की पुस्तकों "स्माल इज़ ब्यूटीफुल" और "फ्यूचर इज़ मेनेजेबल" के माध्यम से कही है कि बुद्धिमत्ता इसी में है कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी को चेतना, मार्मिकता, सौम्यता, अहिसा एवं सौंदर्य के हित के लिए इस्तेमाल में लाया जाए । असल में, निर्भय होकर यदि हम सोचें तो पायेंगे कि वास्तव मे टेक्नोलॉजी और साहित्य में कोई द्वंद्व नही है । दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं । ज़रूरत विवेक को जाग्रत करने की है । किताब और कम्प्यूटर का रिश्ता भी ऐसा ही रिश्ता है । कम्प्यूटर किताब का विरोधी नहीं हो सकता । विचारणीय यदि कोई चीज़ है, तो वह यह है कि उत्तर आधुनिकता के नकारात्मक सोच को ठीक से समझें । इस चिंतन के पीछे छुपे हुए शून्य को पकड़ें जहाँ से सब कुछ की मृत्यु होने की आवाज़ आ रही है । क्या यह कोई षडयंत्र तो नही या फिर हताशा और निराशा की एक आंतरिक चीख़ है, जिसके कारण विश्व समाज में उभर रहे हैं ।

उत्तर आधुनिकता के ही परिप्रेक्ष्य में देवेन्द्र इस्सर यह प्रश्न भी उठाते हैं कि, "आखिर हम साहित्य क्यों पढ़ें ?" यह सवाल ऐसी स्थिति में और भी कठिन और महत्वपूर्ण हो जाता है जबकि साहित्य की मृत्यु की घोषणा की जा चुकी हो । इलियट ने बहुत पहले "उपन्यास की मौत" घोषित कर दी थी और एडमंड विलसन ने काव्य को एक उभरती हुई विद्या बता दिया है । इस्सर जी ने अल्विन कर्नान का जिक्र करते हुए उसके शब्दों को इस प्रकार रखा है—"गत तीस वर्षों के दौरान अमेरिका में साहित्य मर गया है । कुछ तो अपने हाथों उसकी मृत्यु हुई है और कुछ बाहरी आक्रमणों के कारण । रही-सही कसर सामाजिक

तथा तकनीकी तब्दीली ने पूरी कर दी, जिसे हम उत्तर आधुनिकता की संज्ञा से जानते हैं।" ऐसी स्थिति में देवेन्द्र इस्सर का यह सवाल कि आखिर हम साहित्य क्यों पढ़ें? हमें साहित्य की स्वायत्तता पर सोचने को मजबूर कर देता है। यही यह सवाल भी पैदा होता है कि साहित्य का मकसद क्या है ? क्या साहित्य समाज-सुधार का कार्य करता है ? तो यह गलत-फहमी निकाल देनी चाहिए। आज तक दुनिया के किसी साहित्य ने समाज-सुधार नहीं किया ?और आज के युग में जबकि मनोरंजन के तरीकों का बाजार में अंबार लगा हुआ है, कोई साहित्य पढ़ने का कष्ट क्यों उठाने लगा। काफी विवेचन के बाद खुद देवेन्द्र इस्सर को कहना पड़ा कि "मेरे सामने कोई चारा नही रहा कि यह कहूँ कि कृति जिस सत्य का अन्वेषण करती है, वह किसी अन्य विधि या उपकरण से प्रायः संभव नहीं।" यानी साहित्य अपने स्तर पर जीवन के सत्यों को उपलब्ध करके समाज को देता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि साहित्य का कोई विकल्प नही।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नही है कि फिलहाल हिन्दी में उत्तर आधुनिकता पर इससे बेहतर कोई दूसरी पुस्तक नही है। हालांकि दो-चार किताबे आयी हैं पर उनमें अवधारणा और चितन की वह स्पष्टता नहीं है, जो देवेन्द्र इस्सर की किताब में है। यह किताब काफी गहन अध्ययन और मनन के बाद लिखी गयी है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह को थोपने की कोशिश नही की गयी है। यही कारण है कि इस किताब को पढ़कर उत्तर आधुनिकता से जुड़े अनेकानेक सवाल अपने आप खुलने लगते हैं और हम उत्तर आधुनिकता के इतिहास और उसकी जड़ों से परिचित होने लगते हैं। यह किताब सवालों से भरी हुई है। यहाँ कोई निष्कर्ष या फैसला नही है बल्कि सोचने-समझने के लिए काफी सामग्री है। जो किताब सवाल पैदा करने में कामयाब होती है, निःसन्देह उसे मैं बहुत महत्वपूर्ण किताब मानता हूँ। □

उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति की नयी सोच/देवेन्द्र इस्सर/इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्ण नगर, दिल्ली-110051/पृष्ठ : 152 / मूल्य : 125/-

भोर होने से पहले—मिथिलेश्वर

रवींद्रनाथ राय

समकालीन दौर में मिथिलेश्वर उन कुछेक कहानीकारों में से हैं, जिन्होंने तीन दशकों से अपने लेखन की अबाध गति को बनाए ही नही रखा है, बल्कि नैरंतर्य के साथ अपने को विकसित और समृद्ध भी किया है। मिथिलेश्वर का नवीन कहानी-संग्रह 'भोर होने से पहले' इसी नैरंतर्य का सही दिशा में अग्रसर होने का प्रमाण है। समीक्ष्य संग्रह की कहानियों के केन्द्र में व्यक्ति या शिल्प न होकर आम आदमी है। इस संग्रह की कहानियाँ साधारण मनुष्य की यातनाओं, आकांक्षाओं, और अन्तर्विरोधों को एक सीधे-सादे रचनात्मक-धरातल पर प्रस्तुत करने की कोशिश करती हैं। कथाकार की प्रेरणा शिल्प के कौशल से नहीं, जीवन अनुभव की गहराई और तिक्तता से शक्ति प्राप्त करती है।

विवेच्य संग्रह 'भोर होने से पहले' में कथाकार की पंद्रह कहानियाँ संकलित हैं। इसकी पहली कहानी "भोर होने से पहले" संग्रह की नामित और ख्यातिलब्ध कहानी है। निम्न वर्ग के पात्र बुधिया और बैजू इस कहानी के केन्द्र में हैं। यह कहानी इन्ही दो बंधुआ मजदूरों के जीवन की त्रासदी को गहरी मार्मिकता से उद्घाटित करती है। बंधुआ मजदूरों पर ढाये गये जुल्मों और यौन-शोषण के अमानवीय अत्याचारों का सजीव वर्णन ही इस कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य है। बेगार-प्रथा, सामंती समाज की एक ऐसी घृणित और शोषक वृत्ति है, जिसके अन्तर्गत मजदूरों से बिना उनके श्रम का मूल्य दिये काम लिया जाता है। इस कहानी का नायक बैजू इस चरवाही की यातना भरी स्थिति से भाग जाना चाहता है, लेकिन मालिकों के बेटों द्वारा पकड़ लिया जाता है। उसे धमकाते हुए लड़के चेतावनी देते हैं—"आइन्दा भागने की कोशिश की तो मारकर हाथ-पांव तोड़ दिये जाएंगे.... अगर जाना ही है तो पिता का कर्ज चुकाकर जा सकता है। (पृ. सं. 14) दिल

दहलाने वाली इस कहानी में इज्जतदार घराने के मालिकों द्वारा बेगार ही नहीं लिया जाता, बल्कि उनके मनचले बेटों द्वारा बुधिया के साथ बलात्कार भी किया जाता है। उच्च-वर्ग के इस क्रूर यौन-शोषण से आहत बुधिया कुएं में कूदकर आत्महत्या का असफल प्रयास भी करती है। भद्र समाज के ऊँचे-ऊँचे महलों के अंधेरे कमरों और घुटन भरे वातावरण में आर्थिक आधार विहीन युवा मजदूरिनों की असहाय स्थिति का लाभ उठाकर किया जा रहा यौन-शोषण जमीदारों की निर्ममता और क्रूरता का लोमहर्षक दृश्य उपस्थित करता है। बलात्कार के बाद बुधिया के गर्भ के कलंक से मुक्ति हेतु सारा दोष बैजू के सिर पर थोप देना उनकी घृणित साजिश का ही द्योतक है। इस कहानी में बुधिया और बैजू जैसे दयनीय स्थिति को प्राप्त मजदूर-वर्ग की असहनीय पीड़ा और छटपटाहट ही अभिव्यक्त हुई है। इस कहानी में कथाकार बैजू और बुधिया के भीतर उठने वाले आक्रोश को अभिव्यक्त तो करता है, लेकिन शोषण के विरुद्ध निम्न-वर्ग के इन पात्रों का सक्रिय संघर्ष कहीं नही दिखाई पड़ता है। जमीदारों के अत्याचार और जुल्मों से घिरे ये दोनों पात्र मालिक के यहाँ से भाग कर ही मुक्ति पाते हैं। ग्रामीण उच्च-वर्ग, आर्थिक दृष्टि से विपन्न, बेसहारा युवतियों के प्रति कितना क्रूर, अमानवीय और हृदयहीन है, यह असीम कष्ट से जूझते हुए बुधिया और बैजू को देखकर ही प्रतीत होता है।

मिथिलेश्वर की कहानियों में जिस भारतीय-समाज की पीड़ा भरी समस्याओं की जानकारी मिलती है, वह मूलतः ग्रामीण समाज है; जहॉ से नैतिकता और आदर्श गायब हो रहे हैं। ग्रामीण यथार्थ जहॉ मिथिलेश्वर को क्षुब्ध और आहत करता है, वहॉ वे आक्रोश के बदले सहानुभूति का सहारा लेते हैं। उनका सम्पूर्ण रचना-कर्म नारी ही की असहनीय पीड़ा और वेदना के प्रति असीम सहानुभूति से भरा है। "वैतरणी भौजी" की कहानी इस दृष्टि से विवेचनीय है। वैतरणी भौजी अपने पति के उपेक्षा भाव का शिकार होकर जीवन भर ऑसू बहाते हुए ग्लानि की अग्नि में दग्ध होती रहती है। वह दरबदर ठोकर खाती है। उसका पति अपनी बेवा भौजाई से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर उसे घर से निकाल देता है। पति द्वारा तिरस्कृत वैतरणी भोजपुर के जिस गांव में आश्रय प्राप्त करती है, वहॉ भी पुरुषों की मनमानी के कारण उसे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन जीने नही दिया जाता। गांव के लोग उसे मनचले और चरित्रहीन जयराम से विवाह करने के लिए बाध्य कर देते हैं। उसका पति जयराम उसके साथ दुर्व्यवहार तो करता ही है, गॉव के अन्य लोगों को भी वैतरणी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की खुली छूट दे देता है। वैतरणी द्वारा विरोध करने पर जयराम का यह कथन—"दस घाट का पानी पीकर आने के बाद सती-सावित्री बनती है और मुझे गांव के नवट्टियों से मार खिलवाना चाहती है", उसके मानसिक दिवालियापन और नपुंसकता को ही रेखांकित करता है। यहाँ कथाकार ने यह कहना चाहा है कि पुरुष समाज की दूषित मनोवृत्ति ने आर्थिक आधार विहीन सरल,

अबोध और असहाय स्त्री की दयनीय स्थिति का लाभ उठाकर उन्हें नारकीय जीवन जीने को विवश कर दिया है।

ऐसे धूर्त और कामुक व्यक्तियों द्वारा प्रवंचित और प्रताड़ित ग्रामीण स्त्रियॉ जीवन भर दारुण यातना झेलते हुए हर जगह ठगी ही जाती हैं। आज पुरुष-समाज ने अपनी काम-पिपासा की शान्ति के लिए नारियों को वैतरणी भौजी बनने के लिए बाध्य कर दिया है।

मिथिलेश्वर ने अपनी अनेक कहानियों में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के विविध आयामों को कलात्मक दक्षता के साथ प्रकट किया है। नारी-विषयक समस्याओं का उद्घाटन और उनका समाधान ही कथाकार का उद्देश्य रहा है। इस संग्रह की कहानी 'रास्ते' की सुचित्रा जैसी नारी-पात्र के माध्यम से कथाकार ने नारी-विषयक प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है। 'रास्ते' की सुचित्रा; 'भोर होने से पहले' की बुधिया और 'वैतरणी भौजी' की तरह बन्द रास्तों के बीच नहीं है। वह दाम्पत्य-जीवन की त्रासद स्थितियों को झेलते हुए उससे मुक्त होने के लिए संघर्ष भी करती है।

मिथिलेश्वर की प्रखर चेतना का प्रेरणा-स्रोत ग्राम-जीवन है, जिसके परिवेश और पात्रों की सही पहचान और गहरी सम्पृक्ति उन्हें जन-जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की समर्थ दृष्टि प्रदान करती है। गॉव से शहर में आकर बस जाने के बाद कथाकार को गॉव का महत्वपूर्ण पक्ष अत्यधिक आकर्षक प्रतीत होने लगता है। इसीलिए कथाकार ने 'कीर्तनिया बाबा' कहानी के माध्यम से महानगरीय-जीवन की जटिलता की अपेक्षा गांवों की सहजता और समाजिकता की महत्ता स्थापित की है। कीर्तनिया बाबा महानगर दिल्ली में पहुँच कर नगर-जीवन के यथार्थ से परिचित होते हैं। वे शहरी जीवन की व्यक्ति वादिता, छल-छद्म और अपरिचय से आहत होकर गांव लौट जाते हैं।

मिथिलेश्वर ने राजनीतिक तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार और उसके आपराधिक स्वरूप का अपनी कथा-कृतियों में कच्चा-चिट्ठा खोलने का सफल प्रयास किया है। इसका साक्ष्य उनकी 'सो दुबिधा पारस नहि जानत' शीर्षक कहानी है। इस कहानी में राजनीति के अपराधिकरण के स्वरूप को उद्घाटित किया गया है। इस कहानी का पात्र इन्द्रदेव हत्यारा, डकैत और अपहरणकर्ता होते हुए भी सत्ता परिवर्तन के बाद समाज-सेवक और देशभक्त के रूप में पुरस्कृत होता है। कथाकार ने यह कहना चाहा है कि भारतीय राजनीति की इसी अवसरवादिता और पतन के कारण अपराधी व्यक्तियों को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त होता है। लेकिन पुनः तीसरी सत्ता-व्यवस्था पुरस्कृत व्यक्ति को अभियुक्त के कठघरे में ला खड़ी कर देती है। इस प्रकार कथाकार ने यह कहना चाहा है कि कोई सत्ता पारस नही बन सकती। राजनीतिक स्पर्श से पुरस्कृत और अभिनन्दित होने वाला व्यक्ति वस्तुतः अपने कलंकित चरित्र से मुक्त नहीं हो पाता है।

आदिवासी जीवन पर आधारित कहानी 'सिम्बोंगा की वापसी' में शहरी कुप्रभाव के चलते आदिवासी जीवन में आयातित अपसंस्कृति को रेखांकित किया गया है। आज सहज और निश्च्छल प्रवृत्तियों से मुक्त आदिवासियों का जीवन शहरी बुराइयों से अछूता नही रहा। नगर-जीवन की कामुकता और छल-प्रपंच ने आदिवासियों को भी विषाक्त और जटिल बना दिया है।

कथाकार ने इस संग्रह की 'नये दम्पत्ति' कहानी की रचना सम्वाद-कथा के रूप में की है। इस कहानी का कथ्य मनोज और सुनीता जैसे दो पात्रों के सम्वादों के द्वारा निर्मित हुआ है। 'एक गांव की अन्तः कथा' एक कथा-रिपोर्ताज है। इस रिपोर्ताज के माध्यम से कहानीकार ने बिहार के गांवों के परिवर्तित यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। गांवों में एक तरफ जहाँ आज भी रुढ़ियाँ और अन्धविश्वास कायम हैं, वही सामंती शोषण के विरुद्ध आक्रोश के बीज भी अंकुरित हो रहे हैं।

शोषित-पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति तथा पक्षधरता, अनुभव का वैविध्य, और अभिव्यक्ति की कलात्मक क्षमता के कारण मिथिलेश्वर की कहानियाँ उनकी सम्भावना के प्रति आश्वस्त करती हैं। उन्होंने ग्रामीण कथ्य के अनुरूप उपमाओं, प्रतीकों, बिम्बों और मुहावरों से युक्त जैसी भाषा का प्रयोग किया है, वह रचना के प्रतिपाद्य को व्यक्त करने में समर्थ है। लोकभाषा और ग्रामीण अनुभूति से युक्त खुरदुरे, कवित्वपूर्ण और चमकदार गद्य का प्रयोग मिथिलेश्वर की कहानियों को ताज़गी प्रदान करता है। निःसन्देह यह संग्रह हाल के प्रकाशित संग्रहों में विशिष्ट और उल्लेखनीय है। □

भोर होने से पहले / मिथिलेश्वर / भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

मानवीयता की तलाश की कोशिश

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

कविता न शब्दों की बाजीगरी होती है, न सपाट बयानी का निदर्शन, न सबकुछ को उंड़ेल देने की चेष्टा। वह हृदय की पुकार होती है। जीवन का संगीत होती है। स्वर संवादी हो सकता है, विसंवादी भी , परंतु उसमें जीवन धड़कता है। मनुष्य प्रतिपाद्य होता है। वही कारण होता है और वही साध्य होता है। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि सबसे बड़ा मनुष्य है। मनुष्यता की तलाश ही साहित्य का अभीष्ट है। नारायण की वंदना बिना नर के नहीं हो सकती है। इधर की कविता में बड़बोलापन बहुत है। सब अपना-अपना राग अलापते हैं। किसी खेमेबाजी के अंदर, किसी तंबू तले या किसी झंडे, मनवाद के साए में कविता लिखी जाती है। ऐसी हालत में समीक्ष्य कृति की कविताओं से गुजरना सुखद अनुभूति जगाता है। कामिनी की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं। उसने कविता के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाना शुरू किया है, जिसका प्रमाण कृति की कविताओं से मिलता है।

समकालीनता की नब्ज टटोलना भर ही कविता का लक्ष्य नहीं है,न केवल विसंगतियों व विद्रूपताओं का चित्रण करना ही, पर स्वस्थ, स्वच्छ समाज की स्थापना का संकेत मिले, यह भी जरूरी है। कीचड़ में कमल भी खिल सकता है—इस संभावना की तलाश कविता का कर्म है। शीर्षनामा कविता 'ग्रह ग्रहण प्रलय' (पृ. 32-33) की मूल चेतना है कि मनुष्य अपनी सीमा, मर्यादा, शालीनता में रहकर कर्म करे तो समाज में किसी प्रकार की विसंगति नहीं हो, न अराजकता और अव्यवस्था फैले। 'जीवन तो दोनों को जीना है/अपनी धुरियों पर' अन्यथा प्रलय की संभावना है "पर अब सोचती हूँ अगर/अपनी-अपनी धुरियाँ छोड़कर/दो ग्रह आपस में टकरा जाएँ तो/क्या प्रलय नहीं आ जाएगी।" (पृ. 33) अपनी-अपनी धुरियों पर

घूमना यदि विवशता है, तो वरदान भी है ग्रह-नक्षत्रों के पारस्परिक संतुलन के लिए। उसी प्रकार समाज की सुदृढ़ और स्वस्थ व्यवस्था के लिए अपनी सीमा-शक्ति, प्रतिबद्धता के अंतर्गत कार्य करने की आवश्यकता है।

संकलन की कविताओं को कुछ कथ्य, कुछ संवेदना के आधार पर तीन खंडों में, विभक्त किया गया है—'आकांक्षा' में 'अनायास', 'तलाश', 'थकी आंखें', 'श्रापमुक्त', 'सुरंग' और उड़ान शीर्षक कविताएँ हैं। 'श्रापमुक्त' कविता में अहल्या के पौराणिक मिथक का सहारा लेकर एक नारी के आत्मसंघर्ष का आख्यान है। पुरुष की मानसिकता, पुरुष वर्चस्व से उत्पन्न स्थितियाँ नारी के स्वप्न-संभावनाओं को किस प्रकार लील जाती हैं। मर्यादा पुरुष राम भी सदय नही हैं :

"फिर भी
थमी थी वही
जमी थी वहीं
चिर प्रतीक्षा में रामरज की
श्रापमुक्त की
तब नही जानती थी मैं कि
राम भी एक पुरुष की भाँति
गिन रहा है
मेरे पथराने की सजा।"

—श्रापमुक्त, पृ. 17

फलतः जीने के अहसास का मिटते जाना, आकार का खंडित होना, ज्योति का बुझते जाना स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं। नारी की अनंत संघर्ष-यात्रा जारी है। मन का पंक्षी सीमाहीन गगन में स्वच्छंद विचरण करना चाहता है, जबकि वह अपनी सीमा जानता है। नारी की नियति का यह प्रामाणिक दस्तावेज है कि बंद दीवारों से उसकी जड़ें चिपकी हैं 'बिन पानी उगे अंकुर उगी काई' (उड़ान, पृ. 20) परंतु उसकी जिजीविषा व अस्मिता विराम नही जानती, न जानती विधि-निषेधों की अर्गला। उसका रथ निरंतर बढ़ता रहेगा। वह उड़ान भरती रहेगीः

"रोको न मेरी राहें
जंग लगी आशाएँ
'उम्मीद' कविता में उसकी उम्मीद का स्वर मुसकुरा रहा हैः
"मेरी राख के बीच चिनगारियाँ
अभी भी बाकी हैं

मेरे खंडहरों से
प्रेत जा चुका है
बुझी आँखों में लौ जल उठी है
उम्मीदें मुसकुरा रही हैं होठों पर।"

—उम्मीद, पृ. 48

'अनंत' में सोलह कविताएँ हैं। 'अनंत' कविता स्वयं कवयित्री के अनवरत संघर्ष का बयान है, पर अप्रतिहत अथक प्रयास सुनहले कल का द्योतक है। जनवरी से दिसंबर तक की डायरी का एक-एक दिन आशा-निराशा, चुनौतियों, युद्ध, विरोधियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, तो असफलताएँ, विरोध जूझने-डरने का संबल देते हैं

"तैयारी फिर से हुई
बिगुल बजा रण का
मैं फिर से/मैदान में डर गई।" पृ. 51
युद्ध फिर भी बाकी है क्योंकि विश्वास बाकी है।

वर्तमान की महत्ता (अभिशाप्त जीवन), शहर की सहृदयता (शहर), उर्वरता के लिए मर मिटने की उत्कटता (उर्वरता) आदि की अंतरंगता से साक्षात्कार करने से पता चलता है कि कवयित्री का काव्य-संसार विविध भावात्मक एवं अनेक रूपात्मक है। विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति सहज जिज्ञासा का भाव भी व्यक्त हुआ है। पुत्र वियोग में कातर माँ के लिए व्यक्त सांत्वना के कुछ शब्दों में उस निराकार के प्रति संकेत भी हैः

"उस निर्मोही निराकार को
अपनी कला और कलम से
नया आकार दो
और सृजन करो
उसका प्रतिरूप
जो शाश्वत होगा।"

—सांत्वना

इन कविताओं में सर्वत्र अनंतभूख व्याप्त है। यह भूख ही हमारी अविराम यात्रा का कारण है। वह किसी भी प्रकार की भूख हो—पेट की भूख, सूर्य से लड़ने की भूख, पृथ्वी थामने की भूख, आकाश में उड़ने की भूख या समुद्र को नापने की भूख (अनंत भूख, पृ. 68)—उसी के चलते विकास का प्रयास जारी रहता है। मानवता का प्रतीक है कवयित्री के लिए कोढ़ी, अपंग, बूढ़ा, भिखमंगे का सद्यःजात शिशु—इसी का जिलाना, पालना मानवीयता का तकाजा है। मानवता का उद्धार युद्ध और निरंतर युद्ध से नहीं होगा, करुणा

के संचार से होगा। मनुष्यता की रक्षा करुणा ही कर सकती है और करुणा का विग्रह है।

भीष्म सहानी ने लिखा है कि कविता अंधकार के खिलाफ निरंतर प्रकाश की यात्रा है। वह विषम अमानवीयता की कोख से मानवीयता का शिशु उत्पन्न करती है। कामिनी की सभी कविताएँ मानवीयता की तलाश करती हैं। आश्वस्ति और आस्था जगाने का प्रयास करती हैं। निरंतर डरना, जूझना, हार न मानना "आत्महत्या नहीं करूँगी.... नहीं करूँगी...... जी लूँगी...... चाहे तिनका ही मिल जाए ...... (प्रसंगवश) उनकी कविताओं की मूल चेतना है।

कविताओं के चयन में अपेक्षाकृत निर्मम होने की जरूरत थी। भावों की पुनरावृत्ति से बचा नही जा सका है। सादगी, सहजता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता ही इसकी विशेषता है। शिल्प की दृष्टि से यह बात महत्त्व रखती है। आद्यंत कविताएँ रमाती हैं। आप्यायित करती हैं। कोंचती हैं। आत्ममंथन, आत्मसंघर्ष की अनवरत प्रक्रिया से निकली कविताएँ अपनी अलग पहचान बनाती हैं। कामिनी मनुष्य को सदा ग्रह, ग्रहण और प्रलय से बचाना चाहती है। मुख पृष्ठ का चित्र सार्थक है। आवरण आकर्षक। साज-सज्जा हृदयावर्जक। मूल्य उचित है, कवयित्री को बधाइयाँ।

□

ग्रह ग्रहण प्रलय/कामिनी बाली/प्रकाशक : क्षितिज, बी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/ पृष्ठ : 80/ मूल्य : 75/- (सजिल्द)

भक्तिकाल के अंतिम चरण की कविता को समझने में सहायक– महामति प्राणनाथ ! किरंतन पदावली

उमाशंकर मिश्र

भारतीय इतिहास का मध्यकाल सर्वाधिक विवादास्पद एवं उल्लेखनीय काल है। वैदिक युग से लेकर बाद की परम्पराओं तक और विदेशियों तथा विधर्मियों के आगमन और उनके भारतीय समाज में एकरस हो जाने तक की विविध घटनाओं को अपने में समेटे इस युग का समाज राजनैतिक स्तर पर परामित, सामाजिक स्तर पर विघटनशील और आर्थिक स्तर पर शोषित होने के कारण सांस्कृतिक स्तर पर असुरक्षा की भावना से पीड़ित था। अपनी विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों को समेटे यह समाज भौतिक स्तर पर जहाँ अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत था, वहीं धार्मिक, साहित्यिक स्तर पर आत्मचेतना और स्वानुभूति के आधार पर लोक चेतना को जागृत करने के लिए प्रयत्नशील भी था।

मध्यकाल के इस भक्ति और सांस्कृतिक आन्दोलन को विद्वानों ने भिन्न दृष्टिकोणों से देखने-परखने का प्रयास किया है। वास्तविकता यह है कि यह विराट आन्दोलन समग्र भारतीय चिन्तन का स्वाभाविक विकास ही है। इस देश के दार्शनिक, आचार्य, शास्त्रीय व्याख्याता, सन्त एवं भक्त कवि कभी भी समाज-निरपेक्ष नहीं रहे। यहाँ तक कि राजपुरुषों में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिन्होंने वैभवशाली जीवन बिताने और शासन करने के साथ-साथ लोकहित का चिंतन किया। इस आन्दोलन की एक बड़ी विशेषता यह थी कि

इसने एक नया जीवन—दर्शन विकसित किया जिसमें भारतीय चिन्तन का स्वाभाविक विकास और लोक-प्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध अन्वेषण एक साथ देखने को मिलते हैं।

ईसा की छठी शताब्दी से ही कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप से धर्म संस्कृति का यह चित्रण निरंतर होता रहा। दार्शनिक, चितक एवं आचार्य तथा विभिन्न भाषाओं के सन्त कवि यह काम अपने-अपने स्तर पर निरंतर करते आ रहे थे। सन्तों और भक्त कवियों की यह परम्परा दक्षिण से प्रारंभ होकर महाराष्ट्र के संत कवि तुकाराम और उनके अनुयायियों को समेटती हुई हिन्दी प्रदेश में कबीर और परवर्ती कवियों के संस्पर्श से किसी-न-किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक चली आती है, जिसके विशाल प्रवाह में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त, भक्ति-पद्धतियाँ तथा धार्मिक-सम्प्रदाय जुड़े हैं। किन्तु इन सबकी प्रेरक शक्ति सामान्य ही है और वह है— व्यक्ति का कल्याण और भावात्मक स्तर पर समाज-सुधार एवं समरसता।

इस परम्परा में एक ऐसा संत सामने आया जिसने राज्याश्रय ग्रहण करके, राज्यकार्य की भूमिका निबाहते हुए और गृहस्थ धर्म का भी पालन करते हुए लोक-जागृति की वह अलख जगायी, जिसने न केवल हिन्दी प्रदेश अपितु सुदूर प्रान्तों को भी अपनी आलोक से आलोकित किया। यह महान संत कवि हैं- महामति प्राणनाथ। इन्होंने कई भाषाओं और बोलियों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर विपुल काव्य-साहित्य की रचना की। आलोच्य पुस्तक मे इन्ही महामति प्राणनाथ की हिन्दी रचना— 'किरंतन पदावली' का सांस्कृतिक अनुशीलन किया गया है।

'किरंतन पदावली' (अर्थात- कीर्तन पदावली) में संत ने अपने इन भावों को अत्यंत सरल और सहज भाषा शैली में अभिव्यक्त किया है जिसमें उसकी प्रभु के चरणों में आर्तवाणी के साथ-साथ धार्मिक-दार्शनिक मान्यताएं, समाज-सुधार सम्बंधी चिन्तन, साम्प्रदायिक सद्भाव, जातीय एकता और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है। संत कवि महामति प्राणनाथ ने इस माध्यम से एक ओर काव्य-साहित्य की सफल रचना की है तो दूसरी ओर जीव, जगत और ब्रह्म सम्बंधी अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी है।

किरंतन पदावली के मूल भाव और केन्द्रीय संवेदना को समझने और ग्रहण करने के लिए वैदिक काल से लेकर भक्तिकाल की धार्मिकता और विभिन्न दार्शनिक-साम्प्रदायिक मतों की सामान्य जानकारी आवश्यक है। भक्ति आन्दोलन दो दिशाओं में चला है- निर्गुण और सगुण। इन दोनों दिशाओं मे भी पृथक-पृथक पगडंडियाँ हैं।

लेखिका डॉ. शकुन्तला गुप्ता का प्रस्तुत शोध प्रबंध इस दिशा में एक सफल और सार्थक प्रयास है। अध्ययन में गहराई और विस्तार दोनों हैं। पूरा शोध-प्रबंध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में महामति प्राणनाथ का जीवन चरित्र एवं उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं के साथ उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है।

राज्याश्रय में रहते हुए भी महामति ने धार्मिक-आध्यात्मिक साधना की और समाज तथा व्यक्ति को अपने कृतित्व के केन्द्र में रखकर समाज सेवा और समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना पर बल दिया।

लेखिका ने ऐतिहासिक संदर्भ में विषय-वस्तु और भाषा-शैली की दृष्टि से हिन्दी कविता की विकास-यात्रा में महामति प्राणनाथ के योगदान का मूल्यांकन करते हुए उनके साहित्यिक अवदान की अच्छी पड़ताल की है।

पुस्तक का तीसरा अध्याय इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है, जिसमें कवि के दार्शनिक विचारों का विस्तार से विवेचन है। इसमें ब्रह्म, जीव और जगत पर दार्शनिक विवेचन के साथ ही माया, प्रकृति और मोक्ष के संबंध में कवि के चिंतन और कविता में उसकी अभिव्यक्ति पर गंभीरता से चर्चा की गयी है।

सातवां अध्याय लेखकीय निष्कर्ष के रूप में कवि द्वारा वर्णित समाज, समाज सुधार, राजनैतिक सुधार तथा कविता के स्तर पर भाषिक सुधार की विवेचना से संबंधित है। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति की दीर्घ परम्परा के संदर्भ में महामति प्राणनाथ की मौलिक अवधारणाओं और भक्ति आन्दोलन का हिन्दी भक्ति-कविता की परम्परा के संदर्भ में महामति प्राणनाथ के विचारो, उनके कृत्यों और उनके कृतित्व का मूल्यांकन लेखिका ने बड़े मनोयोग से किया है।

आलोच्य पुस्तक की एक बड़ी विशेषता यह है कि शोधार्थी ने कवि की मूल रचनाओं के अधिकांश पाठ देकर उन अंशों की व्याख्या प्रस्तुत की है। इसमें लेखिका के व्याख्याकार और सम्पादक रूप का भी परिचय मिलता है। इस विषय पर अपने ढंग की यह मौलिक कृति भक्तिकाल के अंतिम चरण की हिन्दी कविता को समझने में अत्यंत सहायक हो सकती है। विशेषकर भाषा और शैली के स्तर पर भावी संभावनाओं के दर्शन कराकर लेखिका ने सुदीर्घ काव्य परम्परा के परिचय का सफल प्रयास किया है। □

महामति प्राणनाथ: किरंतन पदावली का सांस्कृतिक अनुशीलन/डॉ. शकुन्तला गुप्ता पृष्ठ 160/ मूल्य 135 रु. (सजिल्द) /भारती प्रेस, इलाहाबाद

सच के पाँवों की आहट

नीलम श्रीवास्तव

विद्याबिन्दु सिह की कविताएँ एक भोक्ता मन का उद्घाटन हैं। वह एक गहरे इन्वाल्वमेन्ट के साथ घटनाओं और अनुभवों को कई सतहों से उनके निहितार्थ को अनावृत करती हैं और इस प्रक्रिया में उनकी रचनात्मक संवेदना, लोक-चेतना घुलमिल जाती है। उदाहरण के लिए "सच के पांव" संग्रह की एक कविता "डूबते बच्चे" को ले सकते हैं, जो पीड़ा की थरथराहट से प्रारम्भ होकर आर्तनाद में समाप्त होती है। "जाने किस बहन की थाली आज रोली, अक्षत, राखी धरे जोह रही होगी बाट" जैसी पंक्तियों में एक भोक्ता मन की करुणा विलाप का स्वर बनती है, फिर भीड़ की बांझ सहानुभूति, पुलिस के लापरवाह रवैये पर अंगुली रखते हुए वह समाज की कुंद होती संवेदना की उस नब्ज को पकड़ती है जो विकास के तमाम प्रतिमानों के बावजूद "डूबती इन्सानियत को बचाने" की मानसिकता से वंचित होती जा रही है। नगरीय सभ्यता की पथरीली मानसिकता से टकराकर रचनाकार को याद आता है अपना गॉव "जहॉ एक आदमी भी यदि/किसी को कुएँ-तालाब में गिरते देख लेता था/तो उस एक आदमी की गुहार/गॉव भर को ही नहीं/आस-पास के गॉव वालों को भी बटोर लाती थी—पता नहीं, आज भी मेरे गाँव में वह गुहार बुलन्द है या नहीं.... ? .... नगर की मक्खियों की भिनभिनाहट/ और तमाशबीन भीड़ में। मुझे केवल सफेद कपड़ों का अन्तर महसूस हुआ है।"

गाँव के ब्याज से दरअसल यह कविता उस आत्मीय भाव सम्पदा की तलाश करती है, जो हमारी संस्कृति का बीज मूल्य है। अनुभूति की अनेक सतहों और संवेदना के अनेक आयामों के कारण यह मात्र दो पृष्ठों की कविता महाकाव्यात्मक स्वरूप वाली कविता है। विद्याविन्दु सिंह की रचनात्मक संचेतना को समझने के लिए यह कविता एक कुंजी है।

विद्या जी की कविताओं में आज के जीवन की विसंगतियों विडम्बनाओं, की तीव्र अभिव्यक्ति तो है मगर उनमें पीटने और आग की लपटें उड़ाने वाला उत्ताप और बड़बोलापन नहीं है। उनकी कविताओं में आज की स्थितयों के प्रति खेद ग्लानि और पश्चाताप का भाव है, इसलिये उनका प्रभाव ठहरकर सोचने के लिए मन को धोकर साफ निर्मल करने के लिए प्रेरित करता है।" "मूलधन खोने की चेतना/तब क्यों लौटती है जब प्रायश्चित का समय चुक जाता है।" (ज्योतिलक्ष्मी) "अपने ही लोगों से भयभीत है परिवार/ उसे भय है उन लोगों से जिनमें चालाकी की ऑखें उग आई हैं" (परिवार) "हमारे बुजुर्ग कहते थे, झूठ के पॉव नही होते/पर यह क्या देखने में आता है कि झूठ के सिर्फ पॉव ही नहीं होते/ वह चलता भी है और दौड़ता भी है......और सच के पॉव कभी रहे होंगे। अब तो उसे खड़े होने के लिए झूठ की बैसाखियों को लेना पड़ता है सहारा" (सच के पॉव) और ऐसी ही अनेक विद्रूपात्मक अभिव्यक्तियाँ "संस्था", "ओ बसंत" तथा अन्य कविताओं में मिलेगी, मगर उनकी अन्तश्चेतना में "हरी दूब की जिजीविषा और शिवतत्व छनता हुआ प्रतीत होगा। उनकी कविता में फिर से जीने लायक दुनिया गढ़ने की एक सूक्ति "आओ हम अमृत बॉट लें/मन को मन से बॉध लें" निरन्तर प्रतिध्वनित होती रहती है।

इस संग्रह में कुछ कविताएँ नारी की आधुनिक चेतना को सशक्त ढंग से प्रस्तुत करती हैं। "मेरा कवच कोई और बने/यह मुझे स्वीकार नही...मुझे तपती हुई जमीन पर नंगे पैर चलना स्वीकार है" या "बहू ने हाथ-पैरों की मजबूती तौली और घूँघट हटा दिया" आदि में उसी जाग्रत चेतना की झंकृतियाँ हैं।

विद्याबिन्दु सिंह की कविताओं में अनुभवों का जितना तादात्मय है, उतनी ही आत्मीय उनकी भाषा भी है जो पाठक से अत्यन्त सगेपन से संवाद स्थापित कर लेती है और अपनी ईमानदार अभिव्यक्ति से उन्हें कविता का हिस्सा बना लेती है। सहज भाषा में बड़े संदर्भों और अभिप्रायों का उद्घाटन आधुनिक कविता की भाषा सामर्थ्य के एक विशिष्ट गुण को रेखांकित करता है। □

सच के पाँव / डॉ. विद्याबिन्दु सिंह / शुभम् प्रकाशन, दिल्ली-32 / मूल्य 100/-
प्रथम संस्करण : 1997

राज्य और संस्कृतिः साथ के सिपाही ?

नाहर सिंह वर्मा

पिछले दिनों प्रख्यात चितक तथा गृह सचिव बी.पी.सिह की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जो संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर उनके द्वारा व्यक्त किए गए विचारों का संकलन है। इस पुस्तक के माध्यम से प्रमुख विश्लेषक एस. कालिदास ने बी.पी. सिह के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण की पड़ताल की है। उनका चितन-परक लेख आप 'गगनांञ्चल' में पहले पढ़ चुके हैं।

एक सेवारत अधिकारी द्वारा अपने कार्य से संबंधित पुस्तक लिखना दुर्लभ ही है। लेकिन लेखक बी.पी. सिंह, कुछ बातों में, परंपरागत अधिकारियों से काफी हटकर है। संस्कृति सचिव के अपने छोटे किन्तु ऊर्जाशील कार्यकाल के दौरान उन्होंने संस्कृति विभाग को काफी स्वतंत्र बनाया और उसे समाज के प्रति उत्तरदायी भी बनाया। उनके सभी प्रयास उनकी इच्छानुसार फलीभूत नहीं हुए और उनकी अनेक योजनाओं के परिणाम अभी आने बाकी हैं। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक अस्थिरता के काल में सांस्कृतिक प्रशासन के क्षेत्र में कुछ मूलभूत कदम उठाने में वे सफल हुए हैं। ऐतिहासिक सूचना, नीति संबंधी मुद्दे, व्यवस्था आदि विस्तृत विषयों पर अपने विचारों को सार्वजनिक तौर पर प्रकट करना, जैसा कि उन्होंने आक्सफोर्ड प्रेस से अंग्रेजी में प्रकाशित 'इंडियाज़ कल्चरः दि स्टेट, दि आर्ट्स एण्ड बियांड" नामक अपनी इस पुस्तक में किया है, उन जैसे व्यक्ति के लिए कठिन न था। कितु उनका यह प्रयास जितना अनपेक्षित था, उतना ही स्वागत योग्य भी है।

पुस्तक को मात्र संस्कृति विभाग की दशा पर उपदेश कहना न केवल अनुचित होगा बल्कि यथार्थ रूप में भी गलत होगा क्योंकि एक ही झलक में यह पुस्तक आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक भारतीय सभ्यता में समाहित हो चुके अनेक विचारों और दर्शन को प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक में ऐसा बहुत-कुछ है जो एक साधारण पाठक-विशेषकर युवा वर्ग-को रुचिकर और शिक्षाप्रद लगेगा, जो कि वर्तमान सांस्कृतिक प्रशासन की बारीकियों से अपरिचित है।

यह पुस्तक व्यक्तिगत दस्तावेज के रूप में लिखी गई है, जिसे निष्पक्ष अंतरावलोकन और मानसिक घावों का खुलासा करने की इच्छा से संबल मिला है। जैसा कि श्री सिंह भूमिका में लिखते हैं, यह पुस्तक 18 महीनों और सैकड़ों किलोमीटर में फैले हुए असबद्ध भाषणों की श्रृंखला का परिणाम है। इस प्रकार इसके समृद्ध पाठ में कई संबद्ध परंतु विभिन्न मुद्दों को वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो पढ़ने में सरस किंतु गंभीर हैं। पुस्तक के प्रथम अध्याय, India's Culture : Some Facts, Some Perspectives. (भारत की संस्कृति: कुछ तथ्य, कुछ दृश्यरूप) में श्री सिंह अपने संभाषणों के प्रेरणा सूत्रों-प्रो. ए.एल. बाशम, जवाहरलाल नेहरू, रवीन्द्रनाथ टैगोर और हिंदी कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का उनके मन पर पड़े गहरे प्रभाव को खुले रूप से स्वीकार करते हैं, 'मैंने कुछ विचारों को प्रामाणिक माना है, जो पिछले कई वर्षों से मेरे मस्तिष्क में अभिनव रूप में विद्यमान थे, विशेषकर संस्कृति को पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण से देखने का बाशम का दृढ़ विचार और विश्व सभ्यताओं को भारत की देन संबंधी उनकी विवेचना; गाँव के लोगों के परिप्रेक्ष्य में भारत की संस्कृति का नेहरू का विचार; भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों संबंधी टैगोर का विचार और दिनकर की यह धारणा कि भारतीय संस्कृति में विश्व के लिए संदेश है क्योंकि यही भारत की नियति है।'

पश्चिमी विचारधारा में प्रकृति और संस्कृति को परस्पर पृथक रूप में देखा जाता है और सांस्कृतिक विशिष्टता को सार्वभौमिकता में रूकावट माना जाता है। श्री सिह इन मान्यताओं के विपरीत विचार करते हुए लिखते हैं कि हमारी भाषा, कला और दर्शन की उपलब्धियों में हमने शब्द और रूप द्वारा जड़ पदार्थों में मानवीय गुणों को आरोपित कर न केवल प्रकृति को जोड़ा है बल्कि स्वयं की एक वैश्विक छवि भी प्रस्तुत की है। "पृथ्वी मेरी माता है और मैं विश्व का पुत्र हूँ," ऐसा वे उद्धृत करते हैं। पश्चिम की तुलना में भारतीय संस्कृति इस बात में अलग है कि यहाँ मानवीय प्रयास को प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष के बजाय उसी की अभिव्यक्ति और विस्तार माना गया है। श्री सिंह ने इस अध्याय में संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य, हिंदू धर्म, हमारी कला परंपराएं, वास्तुकला, दर्शन, विज्ञान और अर्थशास्त्र पर लघु टिप्पणियाँ दी हैं। लेकिन, ये टिप्पणियाँ अति संक्षिप्त हैं, जिन पर या तो और अधिक गहराई से चर्चा की जानी चाहिये थी या इन्हें बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिए था।

दूसरे अध्याय में ही श्री सिंह अपने मुख्य उद्देश्य– राज्य, वाणिज्य और संस्कृति के पारस्परिक संबंधों का जटिल तंत्र–को छूते हैं। वे संस्कृति की सर्वाधिक विस्तृत परिभाषा से इसकी शुरूआत करते हैं। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि अधिकतर लोग संस्कृति को संकीर्ण नजरिए से देखते हुए इसे केवल साहित्य और कलाओं की अभिव्यक्ति तक सीमित रखते हैं। श्री सिंह कलाकार को मानव समाज की भूमि में मजबूती से रखते हुए घोषणा करते हैं, "मेरा मत है कि अपने घर के एकांत या कार्यस्थल पर चितन प्रक्रिया में व्यस्त होते हुए भी कलाकार वास्तव में अकेला नही होता है"।

यह सही है, लेकिन भारत में संन्यास द्वारा संसार के त्याग का विचार भी विद्यमान है। श्री सिह एक राजा और ब्राह्मण की शक्तियों के द्वंद्व को सही ढंग से निरुपित करते हैं। संभव है कि इसके लिए उन्होंने राज्य शक्ति की सीमा से परे स्थित एक आश्रम के शुद्ध वातावरण को ध्यान रखा हो। लेकिन श्री सिंह का मस्तिष्क व्यवस्थित है; पिछले अध्याय में भी भारतीय विचारधारा की विभिन्न दार्शनिक छटाओं की चर्चा करते हुए वे शून्यवाद, अनीश्वरवाद और जड़वाद की संदिग्ध अराजकता को टटोलते हैं। श्री सिह *'सामासिक संस्कृति'* धर्मनिरपेक्ष, बहुवादी/अनेकवादी आदर्शों के सिद्धांतों के पक्के समर्थक हैं। पुस्तक में उनका केंद्रीय विचार 'एक विकासशील राष्ट्र में एक विकसित संस्कृति' का होना है, जिसे वे भारतीय सभ्यता का विरोधाभास मानते हैं। यहाँ पर वे उस जटिल संचालक शक्ति की खोज करते हैं जो राज्य, बाजार और संस्कृति के मध्य चलायमान है। इन्हीं पृष्ठों में वे स्वयं के अनुभवों के आधार पर अभिलेखीय दस्तावेजों और अत्यधिक उपेक्षित आंतरिक दबावों पर प्रखर अंतर्दृष्टि और सदियों से हमारी सांस्कृतिक परंपरा का निर्माण करने वाली प्रेरणाओं पर से पर्दा हटाते हैं।

प्राचीन हिदू भारत और औपनिवेशिक तथा आधुनिक उत्तर-औपनिवेशिक भारत के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में श्री सिह का अध्ययन विद्वतापूर्ण तो है किन्तु पुस्तक में एक बहुत बड़ी खामी 12वी से 19वी शताब्दी के मध्य तक हमारे लंबे और अनिश्चित परंतु अत्यधिक समृद्ध मध्यकालीन इस्लामिक इतिहास की अनुपस्थिति है। श्री सिह अकबर के धार्मिक सहिष्णुतावादी शासन का वर्णन कर उसे केवल छूते भर हैं। इस विद्वतापूर्ण आलेख में यह एक बड़ी भूल है क्योंकि इस काल में न केवल सामंतवादी और साम्राज्यवादी राज्य अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर थे बल्कि अनेक सांस्कृतिक आंदोलनों और कला–रूपों को इस दौरान पूर्ण अभिव्यक्ति मिली थी और वास्तव में अंग्रेजों ने अपना मूलभूत प्रशासनिक ढांचा मुगलों से ही ग्रहण किया था। भक्ति और सूफी आंदोलन, सूक्ष्म-चित्रकारी की इंडो-इस्लामिक कलाएं, संगीत में कव्वाली और ख्याल, विशाल वास्तुकलात्मक स्मारक आदि सभी का विकास इन्ही वर्षों में ही हुआ था। यही वह समय था, जब राजाओं द्वारा कला के संरक्षण ने शिरोबिंदु को छूकर

संरक्षक-कलाकार संबंधों को आधार दिया था।

आजादी के दौरान और उसके तुरंत बाद संस्कृति के क्षेत्र में नवजात लोकतांत्रिक भारतीय राष्ट्र की भूमिका का वर्णन करने वाले पृष्ठ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रधानमंत्री नेहरू और उनके शिक्षा और संस्कृति मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद के बीच हुए संपूर्ण पत्राचार पर एक पूरा अध्याय है। हालांकि श्री सिंह साधारण सी दिखने वाली इन प्रशासनिक फाइल टिप्पणियों में छिपी हुई जटिलताओं पर दृष्टिपात तो करते हैं लेकिन वे न तो कोई पक्ष ही लेते हैं और न ही कोई निर्णय देते हैं। वे पाठक को अपना अनुमान लगाने के लिए स्वतंत्र छोड़ देते हैं।

अगले अध्याय The New Millennium : Harmony Among The Clash of Civilizations (नव सहस्राब्दी : सभ्यताओं के टकराव में एकता) में 1993 के हटिंग्टन दस्तावेज की तीक्ष्ण समालोचना है। श्री सिह स्पष्ट करते हैं कि भारत का अनुभव दिखाता है कि सांस्कृतिक विभिन्नताओं के मध्य कोई टकराव नही होना चाहिए। वे इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकर्षित कराते हैं कि धर्म और सभ्यता, जैसा कि पाकिस्तान और बांग्लादेश के मामले में हम देख चुके हैं, ही अंतिम सीमा-रेखा नही हैं। वे इस विचार पर भी जोर देते हैं कि जहॉ व्यक्तिगत कलाएं व्यष्टि-स्तर पर विभिन्नता लाती हैं, वही समष्टि-स्तर पर संस्कृति जोड़ती है। पुस्तक में, सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप मे सांस्कृतिक प्रशासन और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की भूमिका पर दो परिशिष्ट भी दिए गए हैं। भविष्य की सरकारों के लिए संस्कृति के क्षेत्र में ठोस और सक्षम नीति बनाने में ये परिशिष्ट काफी मूल्यवान सिद्ध होंगे।

अंत में, यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है, जिसमें उन सभी मुद्दों और तथ्यों को उजागर किया गया है जिन्हें पहले कभी इतने एकीकृत ढंग से नही उठाया गया था। हालांकि पुस्तक में कई विचार ऐसे हैं जिन्हें और अधिक विकसित किया जाना चाहिए था और उन्ही सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति विभाग की अनेक कार्यप्रणालियों/नीतियों में परिवर्तन किया जाना चाहिए। लेकिन इसके लिए श्री बी.पी. सिह को शास्त्री भवन मे संस्कृति सचिव के रूप में वापस आना होगा, जो कि गृह मंत्रालय की क्षति होगी। □

इंडियाज़ कल्चर: दि स्टेट, दि आर्ट्स एंड बियांड / बी.पी. सिंह / ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस / मूल्य : 425/-

भारतीय-साहित्य का प्रतीक्षित पर्व- साहित्योत्सव

अखिलेश कुमार

साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित होने वाले साहित्योत्सव की प्रतीक्षा सभी साहित्य प्रेमी करते हैं। इस अवसर पर भारतीय लेखकों से जहां आपसी बातचीत संभव हो पाती है, वहीं राजधानी के राजनीतिक माहौल में साहित्य की अहम् भूमिका पर विश्वास हो जाता है। विभिन्न साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों पर भारतीय चितकों के रचनात्मक विचार, आपसी बातचीत और विभिन्न मुद्दों पर आयोजित बहसें एक सृजनात्मक माहौल का निर्माण करती हैं। इस बार भी 11 मार्च, 1998 से 16 मार्च, 1998 तक चलने वाले साहित्योत्सव को सभी साहित्य प्रेमियों ने इसी रूप में ग्रहण किया।

11 मार्च को सुबह 9.30 बजे कन्नड साहित्य के सुप्रसिद्ध रचनाकार चंद्रशेखर कंबार ने अकादमी'97 प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। प्रदर्शनी में वे सभी प्रमुख चित्र प्रदर्शित किए गए थे, जो 1997 में साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित विभिन्न गोष्ठियों के अवसर पर खीचे गए थे। इसके साथ ही अकादेमी के पुरस्कार से सम्मानित मौलिक तथा अनूदित कृतियों को भी प्रदर्शित किया गया। इसी दिन शाम को कमानी सभागार में 1997 के साहित्य अकादेमी पुरस्कार अर्पण समारोह हुआ। समारोह के मुख्य अतिथि थे— प्रसिद्ध उर्दू शायर अली सरदार जाफरी तथा पुरस्कार साहित्य अकादेमी के नव-निर्वाचित अध्यक्ष श्री रमाकांत रथ द्वारा किए गए। वर्ष 1997 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित होने वाले सम्मानित साहित्यकार हैं— नगेन शइकिया (असमिया), नवारुण भट्टाचार्य (बांग्ला), शिवदेव सिह सुशील (डोगरी), अशोकपुरी गोस्वामी (गुजराती), लीलाधर जगूड़ी

(हिंदी), एम. चिदानंद मूर्ति (कन्नड), रफीक राज (कश्मीरी), शीला कोलंबकर (कोंकणी), कीर्तिनारायण मिश्र (मैथिली), आनंद पी. सच्चिदानंदन (मलयालम), थाडू जम इबोपिशिक सिंह (मणिपुरी), मधुकर वासुदेव धोंड (मराठी) मणि प्रसाद राई (नेपाली), चंद्रशेखर रथ (उड़िया), जसवंज सिह कंवल (पंजाबी), मालचंद तिवाड़ी (राजस्थानी), श्यामदेव पाराशर (संस्कृत), ईश्वर ऑचल (सिन्धी), तोप्पिल मोहम्मद मीरान (तमिल), अजंता पी.वी. शास्त्री (तेलुगु), ज्ञान सिंघ शातिर (उर्दू)।

12 मार्च को सुबह 9.30 बजे अकादेमी के रवीन्द्र सभागार में लेखक- सम्मिलन हुआ जिसमें साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं तथा अपने रचनात्मक अनुभवों पर अपनी बात कही।

हिंदी के सम्मानित कवि लीलाधर जगूड़ी ने इस अवसर पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, "वर्तमान परिदृश्य में अच्छा कवि और अच्छी कविता, दोनों की कमी सबसे ज्यादा दिखती है। कविता के आसपास रहने वाले और कविता को अपने आसपास बनाए रखने वाले लोग कही-न-कही कविता से जीवन में कोई-न-कोई काम ले रहे होते हैं और इस तरह कविता उनके जीवन में अपने जीवन का कोई काम कर रही होती है। जब भी जीवन में याद रखने वाला कोई छोटा-बड़ा अनुभव घटित होता है या तो कोई पुरानी कविता आ धमकती है या फिर कोई नयी कविता जन्म ले लेती है। दोनों में ही मनुष्य होने की संपूर्ण स्मृति का बहुत बड़ा हाथ है।"

उन्होंने कहा कि पुरानी कविता ही नये कवियों को और नई कविता को जन्म देती है। मुझे कविता की ओर ले जाने में पुराने कवियों का हाथ रहा है। उन्ही से झगड़ा करके यह सीखा जा सकता है कैसे नया हुआ जा सकता है। अपनी कविता के बारे में बात करते हुए उन्होंने कहा कि मेरी कविता तदाकार और तादात्मय में की कविता है। शब्दों के शोर में भाषा के उद्दंड खिलवाड़ के बीच भी मैं किसी तल्लीन शब्द की ढूँढ में हूँ, जो मेरी कविता में खोए हुए बच्चे की तरह अचानक दिख जाए।

उर्दू के लिए पुरस्कृत ज्ञान सिंघ शातिर ने कहा कि मैंने अपने पुरस्कृत उपन्यास को इंतकामी जज्बे के तहत लिखा है। मैं बचपन हीसे अपनों और बेगानों के जुल्मो-सितम का शिकार हुआ हूँ। मैं उनसे बदला लेना चाहता था लेकिन न ले सकता था। असमिया के लिए पुरस्कृत नगेन शइकिया ने कहा कि मेरा विश्वास है कि प्रत्येक लेखक एवं कलाकार और वस्तुतः सभी मनुष्यों में एक कवि होता है। इस कवि का भावात्मक बोध ही सभी प्रकार के सर्जन का स्रोत है। इसके बिना मैं न लिख सकता हूँ और इसके बिना जो लिखा गया है उसे न पढ़ सकता हूँ। उन्होंने कहा कि किसी कलाकृति और साहित्य का अंतिम मूल्यांकन कोई पुरस्कार नही हो सकता, जो कृति समय की परीक्षा पर खरी नहीं उतरेगी समय उसे दफन कर देगा। बाड्ला के पुरस्कृत लेखक नवारुण भट्टाचार्य ने अपनी

रचनात्मक यात्रा की झलकी श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि समाजवादी विश्व का ध्वंस मेरे लिए एक खंड-खंड कर देने वाला अनुभव था। इस वेदना की प्रतिध्वनियाँ मेरे वर्तमान लेखन में विद्यमान हैं। हालांकि निश्चित ही यह मेरे लेखन का संपूर्ण सत्य नहीं है। इसके अन्य अनेक आयाम भी हैं। डोगरी के लिए पुरस्कृत शिवदेव सिह सुशील ने शिकायत की कि डोगरी न केवल उपेक्षित है बल्कि एक गंभीर साजिश का शिकार रही है। उन्होंने डोगरी को संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित किए जाने की मॉग की और कहा कि मैं इन बंधनों को तोड़ रहा हूँ जिन्होंने मेरी भाषा को घेर रखा है। गुजराती के लिए पुरस्कृत श्री अशोकपुरी गोस्वामी ने कहा कि अपने आसपास के परिवेश और घटनाओं से मैं जुड़ जाता हूँ और इन घटनाओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बद्ध होने पर भी उन्हें समझने के प्रयत्नों में ही मेरे पात्रों का अंतर्मन मेरे समक्ष उजागर हुआ है। उनके अनुभवों की तीव्रता तथा व्यग्रता मुझे बेचैन करती रही है। मेरी कथाएँ इसी व्यग्रता का परिणाम हैं। उन्होने कहा कि मेरी कथाओं का परिवेश मेरे पात्र, प्रसंग, संवाद आदि यदि पाठकों के मर्म को स्पर्श करने योग्य बन सके हैं तो इसका कारण यही है कि यहॉ अपने पात्रों को कमोबेश मैंने जिया भी है।

तेलुगु के लिए पुरस्कृत श्री अजंता (पी.वी. शास्त्री) ने कहा कि कविता स्वप्न जैसा कार्य है। मैं परखनली में रहता हूँ, अर्धसत्यों में रहता हूँ। कविता के लक्ष्य को कैमरे द्वारा नहीं देखा जा सकता। संसार जैसा दिखाई पड़ता है वस्तुतः वैसा नही है। वस्तुतः यथार्थ का नकाब उठाना है। मराठी के लिए पुरस्कृत श्री मधुकर वासुदेव घोंड ने अपनी रचना-प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डाला। उड़िया के लिए पुरस्कृत श्री चंद्रशेखर रथ ने कहा कि मेरी दृष्टि में समूचा भारतीय साहित्य एक है और उसे भारत-भारती के नाम से अभिहीत किया जा सकता है। विभिन्न भाषाओं के लेखक विभिन्न विधाओं में जीवन को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं लेकिन जीवन एक समुद्र है और इसे किसी जाल में कैद नही किया जा सकता। साहित्यिक अनुभव अत्यंत जटिल गुण है और यह नये-नये पात्रों की सर्जना करता रहा है। इसे शब्दों में व्यक्त करना अत्यंत कठिन है।

कन्नड़ के लिए पुरस्कृत श्री एम. चिदानंदमूर्ति अपने ऊपर डॉ. के.बी. पुटप्पा, क्वेम्पु, प्रो. टी.एन.सी. कैटेय्या और प्रो. डी.एल. नरसिहाचार्य के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा कि मैं साहित्यिक समालोचक होना चाहता था लेकिन मेरे भीतर के विज्ञान के विद्यार्थी ने मुझे इसकी आज्ञा नही दी और मै एक शोधार्थी बन गया। साहित्य सहित अन्य सर्जनात्मक कलाओं में जहॉ सौंदर्य ही सत्य है, शोध में सत्य ही सौंदर्य है। उन्होंने कहा कि समालोचना और शोध से सम्बन्धित गतिविधियों का उभयनिष्ठ लक्ष्य हैः किसी कलाकृति की बेहतर समझ। मैथिली के लिए पुरस्कृत श्री कीर्तिनारायण मिश्र ने कहा कि लेखन मेरे जीवन प्रक्रिया का सहज अंग है। जब कभी मैं थकता हूँ, हारता हूँ, बेसहारा हो

जाता हूँ और रास्ते बंद या भटकाने वाले लगते हैं तो मैं इसकी शरण में आता हूँ। इसके सिवा मेरे लिए कोई दूसरा ठौर नहीं है। मलायलम के लिए पुरस्कृत श्री आनंद (पी. सच्चिदानंदन) ने कहा कि एक तो अगर मैं अपने सर्जनात्मक अनुभव के बारे में बात करूँ तो यह बहुत जल्दी वाली बात होगी। अभी मैंने लौटकर सर्जनात्मक जीवन की ओर देखना शुरू भी नहीं किया है और न मुझे लगता है कि मैं ऐसा कर सकूँगा। दूसरे मुझे इसमें संदेह है कि क्या एक लेखक को अपने सर्जनात्मक अनुभव के बारे में अपने पाठकों के साथ बात करनी भी चाहिए ? लेखन मेरे लिए एक यंत्रणादायी अनुभव रहा है लेकिन लिखने के लिए बैठने से पहले जो घटित होता है वह भी कम पीड़ादायी नहीं है। एक लंबा रास्ता है जिस पर स्वयं को सूली पर चढ़ाए जाने से पहले क्रॉस को लेकर चलना पड़ता है। मणिपुरी के लिए पुरस्कृत श्री थाङ् जम इबोपिशिक सिह ने कहा कि आज की वर्तमान भ्रष्ट व्यवस्था, वर्तमान अवमूल्यित जीवन जैसे मुद्दे मुझे प्रभावित करते हैं और मेरी कविता इसकी प्रतिक्रिया में जन्म लेती है। उन्होंने कहा कि हमारे छोटे से मणिपुर राज्य की स्थिति भी समूचे परिदृश्य की तरह ही है जहाँ अनेक विघटनकारी आंदोलन, नक्सलवादी संघर्ष आए दिन देखने को मिल रहे हैं। हत्याएँ, लूटपाट, हजारों का बेघर होना यह आज की स्थिति है। मुझे नही लगता है कि समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए कविता कोई हथियार हो सकती है। नेपाली के लिए पुरस्कृत श्री एम.पी.राई ने कहा कि आज भारत में नेपाली-भाषी नागरिकों का परिचय आम देशवासियों में बहादुर, चौकीदार और गोरखा दरबान के रूप में ही उभरकर आया है। देश के शहीद, स्वाधीनता सेनानी, कलाकार, डाक्टर, वैज्ञानिक आदि के रूप में गोरखों की छवि को उभारने के संतोषजनक कार्य न के बराबर हुए हैं। इस पुस्तक में मैंने देश के लिए फिरंगी शासकों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले गोरखा जाति के अमर सेनानियों का परिचय दिया है जिससे देश के नेपाली भाषी नागरिकों को बोध हो कि वे राष्ट्रीय मूलधारा से अलग नही है। संस्कृत के लिए पुरस्कृत श्री श्यामदेव पाराशर ने श्रोताओं का ध्यान देश मे व्याप्त सांस्कृतिक प्रदूषण की तरफ दिलाया और कहा कि इस प्रदूषण का निर्मूलन संस्कृत के प्रचार-प्रसार द्वारा ही संभव है।

तमिल के लिए पुरस्कृत श्री तोप्पिल मोहम्मद मीरान ने अपनी माटी का परिचय देते हुए कहा कि वे ऐसी माटी के सपूत हैं जहाँ पर कई महान लेखक, कवि, कलाकार, वैयाकरण और चिंतक पैदा हुए हैं। क्योंकि मेरा क्षेत्र कई महान तमिल संगम लेखकों की जन्मभूमि रहा है इसलिए हमारे क्षेत्र की भाषा में आज भी संगम-युग के कवियों के बहुत से शब्द प्रयुक्त होते हैं। तमिलनाडु के क्षेत्रों में ये शब्द आम बोलचाल या लेखन में नहीं हैं।

साहित्योत्सव "स्वातंत्र्योत्तर भारतीय कविताः संवेदना के इतिहास की ओर" विषयक

राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ। उद्घाटन सत्र में उपस्थित प्रतिभागियों का स्वागत करते हुए अकादेमी के सचिव प्रो. के. सच्चिदानंदन ने आशा व्यक्त की कि स्वतंत्रता की 50वीं वर्षगांठ समारोहों के अनुषंग के रूप में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठियों की श्रृंखला में संभवतः यह पहली संगोष्ठी है जो स्वतंत्रता के बाद के भारतीय लेखन की विभिन्न विधाओं को समेटेगी। उन्होंने अपने वक्तव्य में संगोष्ठी की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न आने वाली संगोष्ठियों के लिए सामने रखें।

संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री अशोक वाजपेयी ने कहा कि हम अंग्रेजों से स्वतंत्रता प्राप्त करने के पहले ही कविता में स्वतंत्र हो चुके थे। 19वीं सदी में भारतीय कविता का स्वर बदलने लगा था। सर्जनात्मक स्वतंत्रता राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले आ चुकी थी। हमारे यहाँ कविता सत्ता के प्रतिपक्ष के रूप में स्थापित हुई। भारत में कविता का हजार वर्ष का इतिहास रहा है। लेकिन यह गद्य की अपेक्षा अधिक प्रयोगशील रही है और इसने गद्य को अनुकूलित किया है। श्री वाजपेयी ने कहा कि भारतीय भाषाओं की कविता में मुक्तछंद को प्राथमिकता मिली। उर्दू और मलयालम जैसी भाषाएँ अपवाद रहीं। हिन्दी की महत्वपूर्ण कविता भी मुक्तछंद में लिखी गई। उन्होंने कहा कि आज की कविता शहरी हो गई है। इसने मूक लोगों की वाणी को अभिव्यक्ति दी है और यह आम आदमी के पक्ष में खड़ी रही है।

उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष श्री रमाकांत रथ ने कहा कि आधुनिकता समय सापेक्ष नहीं है। कुछ कविताएँ जो दो सौ-तीन सौ साल पहले लिखी गई हैं वे आज की कविता से कहीं अधिक आधुनिक हैं। वहाँ यह भी विचारणीय प्रतीत होता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में हम कवियों का पहले की अपेक्षा प्रभाव क्यों कम है ? उन्होंने कहा कि यह जरूरी नहीं है कि जो भी कविता लिखता हो, वह कवि हो।

प्रसिद्ध बाङ्ला कवि और उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि श्री सुभाष मुखोपाध्याय ने महान बाङ्ला उपन्यासकार माणिक बंद्योपाध्याय की मृत्यु के बाद लिखी गई अपनी कविता 'पाथरेर फूल' का पाठ किया। उन्होंने माणिक बंद्योपाध्याय की मृत्यु का कारण दारिद्रय बताया और उन परिस्थितियों का वर्णन किया जिनमें उनकी मृत्यु हुई थी।

श्री दिलीप चित्रे ने अपना बीज भाषण देते हुए प्रश्न किया क्या हमारी मातृभाषाओ ने कविता को तज दिया है या कविता ने हमारी मातृभाषाओं को छोड़ दिया है। उन्होंने कहा कि हम एक दूसरे इतिहास के अंग हैं। हममें से प्रत्येक उसी पीढ़ी से नहीं आता।

साहित्य अकादेमी के उपाध्यक्ष प्रो. गोपीचंद नारंग ने सभी अतिथियों का धन्यवाद ज्ञापित किया।

'कविता में आधुनिकतावाद' विषय पर दो सत्र सम्पन्न हुए। पहले सत्र की अध्यक्षता श्री अभियदेव ने की।

गुजराती कवि श्री दिलीप झवेरी ने कहा कि हमारी पीढ़ी के लोग स्वतंत्रता प्राप्ति के एक दशक इधर या उधर पैदा हुए। उन्होंने कहा कि आज न सिर्फ शहरों के लोग बल्कि गाँवों और कस्बों के लोग भी भ्रष्टाचार के अभ्यस्त हो गए हैं। हम कविगण भी यह देखते हुए बड़े हुए हैं। देश के सामने अनेक प्रकार की समस्याएँ हैं– बेरोजगारी की समस्या, नाभिकीय अस्त्रों के प्रसार की समस्या, पर्यावरण प्रदूषण की समस्या, सामाजिक-सांस्कृतिक अवमूल्यन की समस्या। श्री झवेरी ने कहा कि आधुनिकता का केंद्र यूरोप रहा है। आधुनिकता के मूल में यथार्थ के कई स्तरों की तलाश रही है। उन्होंने गुजराती के गुलाम मोहम्मद शेख, मल्यालम के के. सच्चिदानंदन, बाङ्ला के सुनील गंगोपाध्याय आदि कवियों में आधुनिकता की पड़ताल की। उन्होंने कहा कि श्रीकांत वर्मा में आधुनिकता अपनी सहजता में रूपायित है।

एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय, मुंबई की मित्रा पारीख ने आधुनिकता के संदर्भ में दुर्बोध्यता की समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने प्रश्न किया कि आज की कविता किसके लिए लिखी जा रही है, इसके वास्तविक पाठक कौन हैं ? उन्होंने 'देश' में प्रकाशित सुनील गंगोपाध्याय के 'कविताकार जन्मे' शीर्षक लेखक का उल्लेख किया, जिसमें सुनील गंगोपाध्याय ने कहा था कि कविता सबके लिए नही है, वह उसीके लिए है जो कविता की साहित्यिक परंपरा से परिचित है। उन्होंने कहा कि 1930 में आधुनिकता के आने के बाद कविता में दुर्बोध्यता एवं जटिलता बढ़ी। बाङ्ला में बुद्धदेव बसु, जीवानन्द दास, सुधींद्रनाथ दत्त के आने के साथ काव्य रूप एवं स्वभाव में बदलाव आया।

महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय, कोट्टायम के श्री पी.पी. रवीन्द्रन ने कविता के संदर्भ में आधुनिकतावादी मानकों के उद्भव का विश्लेषण किया। उन्होंने तीन कवियों- पी. कुन्हीरामनायर, एंडेसेरी गोविदनायर और वी. श्रीधर मेनन- जो आधुनिकतावादी मानक के अंग नहीं थे, को विश्लेषण के लिए लिया।

बंगलौर विश्वविद्यालय के श्री एस. कार्लोज ने अपने 'आधुनिकता की राजनीति' शीर्षक आलेख में तमिल आधुनिकता के माध्यम से आधुनिकता को व्याख्यायित करने की कोशिश की। उन्होंने कहा कि तमिलनाडु में दो तरह के आधुनिकतावादी थे, एक ब्राह्मण आधुनिकतावादी जो संस्कृत को स्वीकार करते थे और दूसरे द्रविड़ आधुनिकतावादी जिन्होंने संस्कृत को अस्वीकृत किया। इन दोनों में यद्यपि विरोध था लेकिन कभी-कभी वे एक-दूसरे को प्रतिच्छायित करते दिखते थे। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सभी भारतीय भाषाओं में आधुनिकता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। कन्नड में यह साठ के दशक में आ गई थी जबकि तमिल में अस्सी के दशक में आई।

प्रो. भोलाभाई पटेल ने अपने आलेख में 'यूरोपीय आधुनिकता और भारतीय भाषाओं पर उसका प्रभाव' का आकलन किया। उन्होंने कहा कि बादलेयर को आधुनिक काव्य

आंदोलन का जनक माना जाता है। उन्होंने बताया कि 1924 में बाङ्ला में बुद्धदेव बसु, जीवनानंद दास, सुधींद्रनाथ दत्त और विष्णु दे यूरोपीय आधुनिकता की ओर आकृष्ट थे और रवीन्द्रनाथ का विरोध करते थे। ये कवि इलिएट, एजरा पाउंड और रिल्के के प्रति मुखातिब थे। चौथे दशक में हिन्दी में अज्ञेय ने 'रुढ़ि और परंपरा' शीर्षक निबंध लिखा जिसमें उन्होंने इलियट के सारे सिद्धांतों को स्वीकार किया। उन्होंने बताया कि यूरोप में आधुनिकता के आंदोलन के काव्य का काल बीसवी सदी के प्रारंभिक तीन दशक हैं। हिन्दी में इसका आगमन 'तारसप्तक' के साथ मान सकते हैं। गुजराती में 1956 के आसपास सुरेश जोश की कविता में यह प्रवृत्ति देखने को मिली और साठ के दशक में गुजराती में यह अपने चरम पर पहुँची। श्री पटेल ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में आधुनिकता के आगमन को रेखांकित किया और कहा कि इन भाषाओं में आधुनिकता यूरोपीय आधुनिकता के प्रभाव में आई लेकिन बाद में उसने अपनी परंपरा विकसित की।

सत्र के अध्यक्ष प्रो. अमियदेव ने सत्र में पढ़े गए आलेखों का सार प्रस्तुत करते हुए प्रश्न किया कि यदि मैं आज लिख रहा हूँ तो क्या मेरे लिए उस शब्दावली से परे हो पाना संभव है, जो मेरे पूर्ववर्तियों ने दी है। अमियदेव ने कहा कि मेरी भाषा के बहुत से लोग जो अपने को उत्तर आधुनिक कहते हैं, वे आधुनिक ही हैं, सच्चे आधुनिक।

'कविता में आधुनिकतावाद' विषय पर दूसरे सत्र की अध्यक्षता करते हुए श्री भालचंद्र नेमाडे ने कहा कि मराठी की स्थिति थोड़ा भिन्न है और मराठी के नये और पुराने समालोचकों ने अभी वहाँ उत्तर आधुनिकता को प्रवेश करने नहीं दिया है। उन्होंने कहा कि यह उधार ली गई शब्दावली है। यह मात्र तकनीक और शैली का मामला है और यह आधुनिक मराठी कवियों को रास नही आती।

श्री प्रबोध पारीख ने अपने आलेख में कहा कि कविता में आधुनिकता के प्रवेश की प्रक्रिया अभी इसमें नही हुई है, जारी है। उन्होंने गुजराती में आधुनिकता को समझने के लिए 1959 में लिखी उमाशंकर जोशी की 'शोध', 1929 में लिखी जीवनानंद दास की कविता 'बोध' और आधुनिक कवि लाभशंकर ठाकर की शोध कविता का विस्तार से विश्लेषण किया। पारीख ने कहा कि निरंज भगत की कविता प्रतीकों में बोलती है लेकिन यह शहर की कविता है। समकालीन कविता में रावजी पटेल सर्वाधिक स्वीकृत कवि रहे हैं।

सितांशु यशश्चंद्र ने गुजराती कविता को नया मुहावरा दिया ठाकर की कविता प्रगेयात्मक है और भाव विश्व की बात करती है। रावजी मैं 'नांस्टेजिया' अत्यधिक है।

श्री चंद्रकांत टोपीवाला ने 'आधुनिकता का दाय' विषयक अपने आलेख में कहा कि एक लंबे समय से हमारी साहित्यिक संवेदना मुख्यतः अंग्रेजी साहित्यिक माडलों पर निर्भर रही है। लेकिन स्वतंत्र होने के बाद हम अंग्रेज माडलों से मुक्त होकर बॉदलेयर,

मालार्मे, रिल्के, लोर्का आदि यूरोपीय माडलों की ओर मुड़े। उन्होंने आधुनिकता के दो चरणों की ओर ध्यान आकृष्ट करवाया। पहला चरण 19वीं सदी में अंग्रेजों के प्रभाव में प्रारंभ हुआ। जबकि दूसरे चरण में आधुनिकतावाद छठे दशक में 'कांटिनेंटल' प्रभाव में शुरू हुआ। श्री टोपीवाला ने गुजराती कविता के संदर्भ में आधुनिकता की विस्तार से चर्चा की।

अपराह्न में 'कविता और उत्तर-औपनिवेशिक अनुभवः भीतर और बाहर देखते हुए' विषयक तीसरा सत्र सम्पन्न हुआ। श्री सितांशु यशश्चंद्र ने सत्र की अध्यक्षता करते हुए कहा कि औपनिवेशिक साहित्य क्या पश्चिम के लोगों के प्रभाव में ही शुरू हुआ ? क्या तीसरी दुनिया आधुनिकता से वंचित है ? क्या हम केवल इतिहास में है, भूगोल में नहीं ? क्या हम केवल नरसी मेहता और वार्करी की ही बात करें ?

श्री चंद्रकांत पाटील ने अपने आलेख में उत्तर-उपनिवेशवाद के संदर्भ में एडवर्ड सईद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवक और होमी भाभा के कार्यों का संदर्भ दिया और बताया कि उन्होंने 1990 के बाद अपनी कृतियों में उत्तर-उपनिवेशवाद के सिद्धांत को गढ़ने में सहायता दी है। उन्होंने प्रश्न किया कि वे कौन-से कारण हो सकते हैं जिनकी वजह से उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत अस्तित्व में आए। उन्होंने उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत की मुख्य विशेषताएँ बताईं : राष्ट्रवाद तथा निरर्थकता, देश की अवधारणा में क्रांतिकारी परिवर्तन, यूरोपीय केंद्र का हाशिये पर जाना, सांस्कृतिक संक्रता आदि। उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक सिद्धांत के संदर्भ में उन्होंने समकालीन मराठी परिदृश्य का विवेचन किया।

संगोष्ठी में श्रीमती लक्ष्मी कण्णन और श्री आर. शशिधर ने भी अपने विचार प्रकट किए।

शाम को सुदीप्ता बोस द्वारा निर्देशित रवीन्द्रनाथ की कविता पर आधारित 'मुक्ति' फिल्म का प्रदर्शन किया गया।

'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय कविताः संवेदना के इतिहास की ओर' विषयक संगोष्ठी के दूसरे दिन पहले सत्र की अध्यक्षता करते हुए प्रसिद्ध हिन्दी समालोचक प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि आधुनिकता का आरंभ भारतीय भाषाओं के साहित्य में आजादी के पहले 1940 में हो चुका था। बाङ्ला में बुद्धदेव बसु, मराठी में मरठेकर और हिन्दी में अज्ञेय ने इसका शुभारंभ किया वस्तुतः हम देखें तो उस दौर की शुरूआत रोमांटिक कवियों द्वारा ही हुई। उदाहरण के लिए रवीन्द्रनाथ की परवर्ती कविताओं और निराला की 'पये पत्ते' की कविताएँ देखी जा सकती हैं। आज की आधुनिकतावादी कविता से निराला ज्यादा आधुनिक हैं। यह भी देखने की बात है कि आधुनिकतावादी कविता में विद्रोह कितना था। दुनिया में कहीं भी आधुनिकतावादी कविता को 'रेज़िस्टेंस' की कविता के रूप में

जाना जाता है। आजादी के बाद 1964 तक हिन्दी कविता बहुत ज्यादा विद्रोही या क्रांतिकारी नहीं थी। हिन्दी कविता या भारतीय कविता कितनी विद्रोही है- इसकी पड़ताल होनी चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि इस विद्रोही कविता ने भारतीय कविता को क्या दिया।

श्री एम. श्रीधर एवं अल्लादी उमा, वंसत आबाजी डहाके, सुधीश पचौरी, अनिकेत जावड़े, शमा फतेहअली और एम. असदउद्दीन ने अपने आलेख पढ़े।

एम. श्रीधर एवं अल्लादी असदउद्दीन के आलेख का विषय था 'लिग आधारित संवेदनाः तेलुगु महिला कविता'। उन्होंने वसंता और वोल्गा द्वारा संपादित 'नीलि मेघालुः स्त्रीवाद कवित्वम' का संदर्भ दिया और महिला लेखन से संबंधित कई मुद्दे भी उठाए।

वसंत आबाजी डहाके के आलेख का विषय था 'विद्रोह की कविता/कविताः एक विद्रोह'। डहाके ने कहा कि विद्रोह एक संकल्पना है जिसका जन्म असंतोष या अव्यवस्था की स्थिति से होता है। असंतोष राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक कारणों से उत्पन्न होता है। विद्रोह एक मानसिक स्थिति है तथा सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी।

श्री सुधीश पचौरी ने अपने आलेख में स्पष्ट करने का प्रयास किया कि क्या हिन्दी की स्त्रीवादी कविता कोई प्रतिरोध कायम करती है। उन्होने प्रश्न किया, क्या हम पुरुष होते हुए स्त्रीवादी कविता को स्त्री की तरह पढ़ सकते हैं। अनामिका और गगन गिल की कविताओं के संदर्भ में उन्होंने हिन्दी की स्त्रीवादी कविता पर अपना विचार प्रकट किया। उन्होंने कहा कि गगन गिल में सेक्सवैलिटी का तत्व सुविचारित रूप में आता है जबकि अनामिका की कविता में सेलिब्रेशन के रूप में। उन्होंने आधुनिक स्त्रीवादी लेखन के संदर्भ में कहा कि आज मातृत्व को लेकर, गर्भाशय में विकसित होने वाले भ्रूण को लेकर कविताएँ लिखी जा रही हैं। हिन्दी कविता ने जिस चीज को 'इरेज' कर दिया था, वह सामने आ रहा है। उन्होंने कहा कि स्त्रीवादी कविता में बहुत से पुल्लिंगी अनुभव घुसे हैं, उन्हें दूर करना होगा।

डॉ. अनिकेत जावड़े ने मराठी दलित कविता का व्यापक संदर्भ में विवेचन करने का प्रयास किया। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था के तीन वर्णों के वेद पढ़ने के अधिकार और छुआछूत को लेकर व्यापक फलक पर विचार किया। श्रीमती फतेहअली ने अपने आलेख में मीरा की कविताओं का अनुवाद करते समय आने वाली समस्याओं के बारे में चर्चा की। श्री एम. असदउद्दीन के आलेख का विषय था 'अनुवाद में कविताः उर्दू का मामला'। उन्होंने बताया कि उर्दू कविता के यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद की परंपरा 19वीं सदी से प्रारंभ होतीहै।

अपराह्न के सत्र का विषय था 'वैकल्पिक परंपराओं की खोज : मानकों की

पड़ताल'। इसकी अध्यक्षता प्रो. गोपीचंद नारंग ने की।

श्री ई.वी. रामकृष्णन ने अपने आलेख में यह दिखाने की कोशिश की कि एक साहित्यिक परंपरा के इतिहास में कैसे कुछ कविताएँ बार-बार पुनर्लिखित की जाती हैं। उन्होंने कुमारन आसान की एक कविता 'सिंह प्रसवम' को उदाहरण के रूप में लिया। श्री उदयन वाजपेयी के आलेख का विषय था 'कविता का संबोधीः एक और निर्वचन'। श्री वाजपेयी ने कहा कि जिन्हें खुद को बने बनाए जीवन, बनी बनाई वैचारिकी, बने बनाए इतिहास, तयशुदा अतीत, पूर्व निर्धारित भविष्य में यांत्रिक संवेदन तंत्र में जीवन यापन की दरकार हो, उन्हें कविता को अनदेखा करना चाहिए और भरसक प्रेम करने से बचने की कोशिश करनी चाहिए।

श्री जगदीश दवे ने अपने आलेख में कहा जिसे हम परंपरा कहते हैं वह राष्ट्रीय संवेदना का इतिहास है, जो कि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के नये-नये रूपों के माध्यम से वही बनी रहती है। प्रत्येक नया लेखक, ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रत्येक नया अनुभव, परंपरा के आधार और संरचना को विकृत किए बगैर इसे समृद्ध करता है। श्रीमती वनमाला विश्वनाथ ने कन्नड में महिला लेखन के बारे में बताते हुए कहा कि 1970 के दशक तक कहानी और उपन्यास ही महिला लेखन में प्रमुखता पाती रही। लेकिन उसके बाद कन्नड महिला लेखन में कविता को प्रमुखता मिली। सत्र के अध्यक्ष प्रो. गोपीचंद नारंग ने सत्र में पढ़े गए सभी आलेखो की संक्षिप्त में चर्चा करते हुए विषय को समेटा। उन्होने कहा कि उदयन वाजपेयी का आलेख अकादेमिक न होकर सर्जनात्मक आलेख था और वह एक तरह का काव्य रूप ही था। उन्होंने कहा कि आदर्श पाठक हर पाठ के साथ जीता और मरता है। कभी-कभी कविता अपने पाठक को खुद बनाती है। कभी-कभी सदियो का पाठक कवि के खून मे बोलता है। जगदीश दवे के आलेख की चर्चा करते हुए प्रो. नारंग ने कहा कि हम में इतिहास की संवेदना हो भी सकती है और नही भी हो सकती। लेकिन हम इतिहास से परे किसी चीज़ की व्याख्या नहीं कर सकते। हम इतिहास से पलायन नही कर सकते।

शाम को नंदन खुडयाड़ी द्वारा निर्देशित 'वृन्दा करंदीकर' फिल्म का प्रदर्शन भी किया गया।

साहित्य अकादेमी द्वारा 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय कविताः संवेदना के इतिहास की ओर' विषय पर आयोजित संगोष्ठी के तीसरे और अंतिम दिन पूर्वाह्न के सत्र का विषय था 'विरासत पर पुनर्विचार एवं संकल्पनाओं की पुनर्व्याख्या'। सत्र की अध्यक्षता श्रीमती नवनीता देवसेन ने की। प्रो. रमेशचंद्र शाह, चंद्रप्रकाश देवल, चंद्रशेखर जहागीरदार, रुक्मिणी माया नायर और मकरंद परांजपे ने आलेख पढ़े।

डॉ. चंद्रप्रकाश देवल के आलेख का विषय था 'इतिहास और कविताः राजस्थानी

साहित्य में साथ-साथ'। डॉ. देवल ने कहा कि इतिहास और साहित्य दोनों का संस्कृति के साथ अंतरंग संबंध है। यह समय काल के तीनों आयामों—अतीत, वर्तमान और भविष्य के साथ है। प्रो. रमेशचंद्र शाह ने हिन्दी के प्रमुख कवि निराला पर अपनी बात एकाग्र करते हुए कहा कि हिन्दी के हित का अभिमान उनमें सबसे मुखर है। उन्होंने कहा 'देशकाल के शर से बिधकर' समुची चेतना को झंकृत कर देने वाला जागरण तुलसी का ही नहीं, निराला का भी जागरण है। उन्होंने कहा कि छायावाद का आरंभ और गॉधी का भारतीय राजनीति में आगमन लगभग साथ-साथ होता है। हिन्दी के मुद्दे को लेकर गॉधी और निराला के विवाद की चर्चा प्रायः होती है लेकिन चरखे को लेकर रवीद्रनाथ और गाँधी में हुए विवाद में निराला ने गॉधी का साथ दिया था, इस ओर किसी का ध्यान नही जाता। श्री चंद्रशेखर जहागीरदार का आलेख आठवें और नवें दशक की मराठी कविता पर केंद्रित था। उन्होंने बताया कि एक भाषाई राज्य के रूप में महाराष्ट्र अस्तित्व में आया और उस दौर में मराठी भाषा के विकास का महत्वपूर्ण कार्य हुआ। सैकड़ो कालेज खुले और औद्योगिक-कृषि क्षेत्र में प्रगति हुई। उसी दौर में लघु पत्रिका आंदोलन, दलित आंदोलन, मुस्लिम सत्यशोधक आंदोलन चले।

सुश्री रुक्मिणी माया नायर ने कहा कि यह समकालीन भाषा वैज्ञानिक सिद्धांत है कि जबकि 'सेक्सवैलिटी' जैविक रूप से निर्धारित की जाती है लिग सामाजिक रूप से प्रतीकित होता है। लिग अपने आपको देह की संस्कृति की प्रतीक व्यवस्था में व्यक्त करती है। श्री मकरंद परांजपे के आलेख का विषय था 'भारतीय अंग्रेजी लेखन की परिवर्तित पहचान'। उन्होंने भारतीय अंग्रेजी लेखन के विभिन्न चरणों पर विस्तार से विचार किया और भारतीय अंग्रेजी कविता के तीन प्रमुख चरण माने— पूर्व राष्ट्रवाद, और उत्तर—राष्ट्रवाद।

श्रीमती नवनीता देवसेन ने अध्यक्षता करते हुए कहा कि भारतीय अंग्रेजी लेखन दो तरह का है— एक जो भारत में प्रकाशित हो रही है और जिसकी सीमित प्रसार संख्या है और दूसरा, जो बाहर प्रकाशित हो रहा है। बाहर भारतीय अंग्रेजी लेखन ही भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है। लेकिन यह भारतीय साहित्य का छोटा-सा अंश है।

दूसरे सत्र का विषय था 'सेटेलाइटा टेलीविजन के युग में कविता वाचन/लेखन'। सत्र की अध्यक्षता श्री चंद्रशेखर कंबार ने की। श्रीमती राजलक्ष्मी देवी भट्टाचार्य, श्री नागबोडस और श्री वागीश शुक्ल ने आलेख पढ़े।

श्रीमती राजलक्ष्मी देवी भट्टाचार्य के आलेख का शीर्षक था 'भविष्य की कविता/कविता के रूप में भविष्य'। श्रीमती भट्टाचार्य ने डॉन मोराएस का कथन कि 'मुझे कविता से बहुत कम पैसा मिलता है और वास्तव में जो इसे पैसा कमाने के लिए लिखता है, वह बेवकूफ ही होगा। मेरी जीविका मेरे लेखों और गद्य पुस्तकों से चलती है'- उद्धृत

करते हुए कहा कि मुझे इससे थोड़ा गुस्सा आया। क्योंकि मुझे लगता था कि कविता धन कमाने के लिए नहीं, बल्कि पाठकों का सम्मान अर्जित करने के लिए है।

श्री नागबोडस के आलेख का शीर्षक था 'प्रोद्योगिकी और विज्ञान के युग में कविता'। उन्होंने कहा कि हमारे वर्तमान युग की विशेषता है, अत्यंत तीव्र और अंधाधुंध प्रौद्योगिक विकास। डॉ. वागीश शुक्ल ने 'कविता के रूप में भविष्य' पर अपना आलेख पढ़ते हुए कहा कि भविष्य एक गंदा शब्द है। प्रोमेथियस ने मनुष्य जाति को वरदान दिया है कि वह भविष्य के प्रति अनजान बना रहे, जिससे कि यह गंदगी कार्पेट के भीतर छिपी रहे। मनुष्य जाति प्रोमेथियस के दूसरे वरदान प्रौद्योगिकी विज्ञान का, जो कि आग द्वारा प्रीकित है, उपयोग कर रही है।

श्री चंद्रशेखर कंबार ने सत्र की अध्यक्षता करते हुए 'सेटेलाइट टेलीविजन के युग में कविता की प्रासंगिकता' को रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि भारतीय संदर्भ में कविता केवल मनोरंजन के रूप में ही नही बल्कि ज्ञान और शक्ति के रूप में देखी जाती रही है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य ज्ञान के अक्षय स्रोत रहे हैं। हमने अभी वर्तमान सदी में पाश्चात्य पद्धति की स्थिति के प्रभाव में भौतिक और मानव विज्ञानों पर ज्ञान के लिए निर्भर रहना शुरू किया है। उन्होंने कहा कि इस सदी की साहित्यिक उपलब्धियों का अत्यधिक महत्व है और सर्जनात्मक लेखन के क्षेत्र में कुछ महान प्रयोगों पर गर्व कर सकते हैं। हमारे सर्जनात्मक लेखक कविता को एक नया स्वरूप देने में सक्षम रहे हैं।

सत्र के अंत में, साहित्य अकादेमी के सचिव प्रो. के. सच्चिदानंदन ने समापन वक्तव्य देते हुए संगोष्ठी के दौरान उठे मुद्दों और विचार-विमर्श को श्रोताओं के समक्ष रखा और कहा कि किसी संगोष्ठी में जितने ही अधिक प्रश्न उठते हैं, वह उसकी सफलता का द्योतक होती है। □

खुसरो की यादों की शाम
(भारत-उज़्बेकिस्तान के बीच)

उल्फत मुखीबोवा

इंसान की जिन्दगी में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिन्हें वह कभी भूल नहीं सकता। हाल ही में, 5 अप्रैल 1998 को ताशकन्द शासकीय प्राच्य-विद्या इंस्टीट्यूट (उज्बेकिस्तान) की प्रॉक्टर, खुसरोशीनास अलीमा (विद्वान) डॉ. गुलहुमार तुयचीयेवा ने "इंडिया इंटरनेशनल सेंटर" में प्रसिद्ध फारसी तथा उर्दू जुबान शायर अमीर खुसरो को समर्पित "खुसरो मेमोरियल लेक्चर" दिया। खुशकिस्मती से इसके अनुवाद का कार्य मुझे सौंपा गया।

इस अंजुमन समारोह के मुख्य अतिथि भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, श्री इन्द्र कुमार गुजराल थे। "अमीर खुसरो राष्ट्रीय संगोष्ठी" के अध्यक्ष तथा बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मुहम्मद युनूस सलीम तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर महमूद आलम "खुसरो मेमोरियल लेक्चर" के आयोजक रहे। "खुसरो मेमोरियल लेक्चर" के श्रोताओं में जाने-माने साहित्यकार और विद्वान मौजूद थे जिनमें अरुज़ के विद्वान कमल सिद्धीकी, जामिया मिलिया इस्लामिया के उर्दू विभाग के अध्यक्ष प्रो. गोपीचन्द नारंग, दिल्ली विश्वविद्यालय के फ़ारसी विभाग के अध्यक्ष प्रो. शरीफ हुसैन कासमी, उज्बेकिस्तान दूतावास के महासचिव हमीद जाब्बारोव, जवाहरलाल नेहरू

विश्वविद्यालय के प्रो. नसीर अहमद खान, "राष्ट्रीय खुसरो संगोष्ठी" की महासचिव सुश्री मुमताज हुसैन, प्रसिद्ध चित्रकार अमीना आहूजा, निजामुद्दीन दरगाह के सज्जादा नाशी मेहदी हसन निजामुद्दीन भाई दिल्ली घराना के उस्ताद इकबाल खान, गालिब इंस्टीट्यूट के डॉ. शहीद माहूली प्रमुख थे।

इंसान तथा समाज की विचारधारा सिर्फ साहित्य के माध्यम से ही बदली जा सकती है। इसी कारण हर सदी के साहित्यकार हमेशा समाज को सही रास्ता दिखाने वाली विचारधारा ढूँढकर उसे सही ढंग से पेश करने की कोशिश में लगे रहे। इतिहास से हमें मालूम है कि दुनिया में कितने सारे महान लोगों, विद्वानों, शायरों तथा लेखकों के नाम अमर हो गये हैं। हर सदी में, हर समाज में सैकड़ों कवि या लेखक, महात्मा या विद्वान पैदा हो सकते हैं। लेकिन इन में से चन्द लोगों का ही नाम अमर हो पाता है। इसका कारण सिर्फ यह हो सकता है कि वे अपने समाज की, अपनी जनता की समस्याओं को सही रूप में पहचानकर, उन्हें अपनी रचनाओं में, ग्रन्थों में सही ढंग से पेश करके जनता को सही रास्ता दिखाने में सफल हो सके। सिर्फ वही साहित्यकार, वही रचनाकार अमर बन सकता है, जिसके दिल में अपनी जनता के प्रति बेहद प्यार है और जिसने बड़ी खुशी के साथ अपनी जनता की सेवा की है।

इस तरह के अमर शायरों की संख्या में अमीर खुसरो का नाम भी शामिल है। बारहवी सदी में रहे एक शायर को फिर एक बार याद करने के लिए आज बीसवी सदी के साहित्यकार "इंडिया इंटरनेशनल सेंटर" में जमा हुए हैं। यह इस बात का सबूत है कि अमीर खुसरो 800 साल से अपनी जिन्दादिल ग़जलों, रूबाइयों, क़ितआओं, मसनवियों, हमसा जैसी हजारों रचनाओं के द्वारा अमर रहे।

डॉ. गुलहुमार तुयचीयेवा ने कहाः

"मैं आज का अपना भाषण आप लोगों की इजाजत से सबसे पहले महान इंसान और मशहूर शायर अमीर खुसरो की पाक रूह को, भारत की स्वतंत्रता की 50वी वर्षगांठ तथा अपने वतन उज्बेकिस्तान की आजादी की 7वीं सालगिरह को समर्पित करना चाहूँगी।

कई सालों से मेरे मन की गहराई में एक ख्वाहिश छिपी हुई थी। वह यह थी कि मुझे कभी खुसरो का वतन, उनका जन्मस्थान पटियाली देखने का अवसर मिल जाए। वही मेरा सपना आज हकीकत में बदल गया है और मैं अपने आपको बड़ी खुशकिस्मत समझती हूँ कि मुझे "इंडिया इंटरनेशनल सेंटर" में "खुसरो मेमोरियल लेक्चर" देने का भी मौका मिल रहा है।

खुसरो कौन थे, आज हमारे लिये उनकी क्या आवश्यकता है ?

खुसरो एक आदर्श इंसान, एक मानवतावादी शायर थे जो सूफियाना अंदाज में लिखते थे। वे न सिर्फ शायर थे बल्कि एक अच्छे मुसीकाशुनास (संगीतकार) और एक

अच्छे गायक भी थे। उनकी हर शायरी में जनता के दिल की बातें थीं। जनता में उनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ काफी प्रसिद्ध थीं। खुसरो बहुत ही विनोदी, मिलनसार और सहृदय थे। उनका कृतित्व, उनकी शायरी न सिर्फ हिन्दुस्तान में बल्कि विदेशों में उज्बेकिस्तान, ताजिकिस्तान, अजरबैजान, ईरान, अफ़गानिस्तान आदि देशों में भी बड़े प्यार और रुचि के साथ पढ़ी जाती है। आज "इंडिया इंटरनेशनल सेंटर" में आयोजित इस अंजुमन का एक मकसद (उद्देश्य) यह भी है कि इस बात का पता लगाना कि उज्बेकिस्तान में अमीर खुसरो के बारे में क्या जानते हैं ? अमीर खुसरो उनकी नजर में कौन हैं ?

आगे डॉ. गुलहुमार ने इन सवालों का जवाब दिया। इस अंजुमन से यह खुलासा किया जा सकता है उज्बेक लोग खुसरो को अपने सूफी शायर अलीशेर नवाई के बराबर समझते हैं, जिन्होंने निजामी और खुसरो के बाद तीसरे "हमसा" को लिखा था। उज्बेकिस्तान की राजधानी ताशकन्द की प्राच्य विद्या इंस्टीट्यूट (ताशकन्द स्टेट इंस्टीट्यूट ऑफ ओरियन्टल स्टडीज़) मे भी "खुसरो सोसाइटी" है, जिसके अध्यक्ष हैं प्रसिद्ध विद्वान शाइस्लाम शामुहम्मद, जिन्होंने खुसरो के "शाहनामा" का फारसी से उज्बेक में अनुवाद किया है। उज्बेकिस्तान में खुसरो के कृतित्व का अध्ययन 1960 से शुरू होकर आज तक बड़े पैमाने पर जारी है।

अमीर खुसरो न सिर्फ साहित्य के क्षेत्र में अमर रहे बल्कि अपनी कलम के जरिये अपनी मीठी शायरी से लोगों के बीच साहित्यिक रिश्ते कायम करने में भी सफल रहे।"

"खुसरो मेमोरियल लेक्चर" के बाद एक संगीत का कार्यक्रम भी आयोजित किया गया था, जिसमें दिल्ली घराना के मशहूर गायक उस्ताद इकबाल खान ने खुसरो की बहुत सुन्दर संगीत रचनाओं को पेश किया।

सेमिनार में बैठे-बैठे मुझे यह ख्याल आया कि यह शायर, जिसने सदियों पहले भारत की जमीन पर पैदा होकर, शायर बनकर अपनी तमाम जिन्दगी अपनी कलम के जरिये फारसी और उर्दू में शायरी कर इंसानियत की सेवा की थी, वही शायर सदियों बाद आज अपनी वही सेवा कितने सुन्दर ढंग से जारी रखे हुए है। सदियों बाद उनकी शायरी उज्बेकिस्तान और भारत के साहित्यकारों को एक जगह जमा कर, उनके बीच दोस्ती का जो रिश्ता था, उसे और मजबूत बनाने का कर्तव्य निभा रही है। खुसरो आज भी जिन्दा हैं, हमारे बीच हैं क्योंकि जो कुछ आज वे कर रहे हैं, कोई जिन्दा इंसान ही कर सकता है। आज जरूरत है इंसान को उनके द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने की। हिन्दुस्तान की खुशकिस्मती है कि अमीर खुसरो उसकी जमीन पर पैदा हुए, और उज्बेकिस्तान की खुशकिस्मती है कि उसने अमीर खुसरो को सही पहचाना है और उनकी शायरी के जरिये भारत को भी सही पहचाना है। यही पहचान दोनों देशों, उज्बेकिस्तान और भारत के बीच मौजूद सदियों पुरानी दोस्ती को बनाये रखने में मदद देगी। □

13वें विश्व पुस्तक मेले की उपलब्धि

ललित्य ललित

नयी दिल्ली में नये विश्व पुस्तक मेले की तैयारियाँ चल रही हैं।
इसी संदर्भ में पिछले मेले पर एक रपट।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक निबन्ध में कहा था हिमालय है, सदा रहेगा, हमारा रहेगा, क्योंकि वह है इसलिए हम हैं, हमारी देवात्मक संस्कृति है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

द्विवेदी जी की पंक्तियां भीतर तक एक प्रभाव छोड़ती हैं यही स्थिति साहित्य की है। साहित्य अपने साथ पूरे समाज को लेकर चलता है, उसे राह देता है, मंजिल देता है। जाहिर है कि एक अच्छी किताब एक व्यक्ति को परा माहौल देती है और एक समाज में सम्मिलित होकर ही लेखक मानवीय होता है। स्वयं गांधी जी ने भी कहाः 'सच्ची शक्ति ज्ञान में है।'

असली ज्ञान वही, जिसे एक सजग दृष्टि से देखा जाए, उसके भीतर उतरा जाए। किताब आज के भौतिकवादी युग में एक आदर्श दोस्त की तरह है जो हर पल आपके संग रहती है। बेशक आज केबल की तारों का जाल, उपग्रह के माध्यम से भेजे जा रहे हर घर में घुसपैठिए जगह बनाने की कोशिश में है लेकिन ऐसा हो जाना संभव नहीं।

हर क्षेत्र के उद्योग की भांति पुस्तक उद्योग आज विकसित होता नजर आ रहा है। किताबों का वैविध्य, उसका बाजार, प्रकाशकों का पुस्तक और लेखक के आपसी संबंध

हालांकि अब परिदृश्य स्पष्ट होता दिख रहा है। सरकार पूरी मदद कर रही है कि किताबें सही हाथों में पहुँच सकें।

पिछले दिनों राजधानी दिल्ली में पूरी दुनिया की श्रेष्ठ किताबों का अनूठा मेला—तेरहवें नयी दिल्ली विश्व पुस्तक मेले में देखने को मिला। मेला मथुरा रोड पर स्थित प्रगति मैदान में आयोजित किया गया था। एशिया पर केंद्रित यह मेला 27,000 वर्गमीटर क्षेत्र में फैला हुआ था। जिसमें भारतीय भाषाओं के 300 प्रकाशकों सहित विश्व के 33 देशों के प्रतिनिधियों ने हिस्सेदारी की। उल्लेखनीय अंतरराष्ट्रीय प्रकाशकों में यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, फ्रांस दूतावास, दि जापान फाउंडेशन, कुवैत, दूतावास तथा अफ्रीकन पब्लिशर्स नेटवर्क शामिल है।

पिछले बारहवें विश्व पुस्तक मेले में विदेशी भागीदारों की संख्या पचास रही थी, जो इस बार 36 पर टिकी। वही दूसरी ओर मेला देखने आये पाठकों, खरीदारों की अनुमानित संख्या पॉच लाख के करीब आंकी जा सकती है।

उद्घाटन

तेरहवें विश्व पुस्तक मेला का उद्घाटन पद्मभूषण सम्मान से अलंकृत भारतीय दार्शनिक प्रो० डी.पी. चट्टोपाध्याय ने दीप प्रज्ज्वलित कर के किया। इस अवसर पर उन्होंने कहाः 'जिस तरह अंधकार में दीप की भूमिका होती है वैसी ही अज्ञान में किताबों की। किताबें गत्तों के बीच कोई मरी हुई बेजान चीज नहीं है। वह हमारे स्वप्नों का निर्माण करती है। दरअसल पुस्तक स्वतंत्रता की पुकार है। वह समय को बॉधती है और बंधे हुए समय को खोलती है। वह बीते समय को हमारे सामने और हमारे समय को भविष्य में नियोजित करती है। यह जीवन और समय के बीच एक मार्मिक संबंध का निर्माण करती है।' प्रो. चट्टोपध्याय ने आगे कहाः 'प्राचीन समय में किताबें भोजपत्र, ताड़पत्र आदि पर लिखी जाती थी। और तब उसके बाद ज्ञान गुरु-शिष्य-परंपरा से निकलकर आलोकित होता था और करता है। इसमें संबंधों की जगह और पहचान थी, लेकिन अत्याधुनिक इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ने सारी चीजों को विमुख कर दिया है। आज का मनुष्य सूचनाओं से जर्जर है। उन्होंने कहाः हमें सूचनाओं को सही परिप्रेक्ष्य और अपनी जरूरत के हिसाब से ग्रहण करना चाहिए; ताकि वे सार्थक और आनंददायक साबित हो सके।'

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे, फ्रांसीसी भाषा के दीगर विद्वान व महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रो. मिशेल सेर्रे। उन्होंने कहाः 'हम आज ऐतिहासिक संक्रमण काल से गुजर रहे हैं। टेक्नोलॉजी और हाई-टेक ने हमारी मूल्य व्यवस्था, हमारे संबंधों और जीवन-शैली को बलकर रख दिया है। हमने इससे क्या अर्जित कर लिया ? हम संवाद के अपने पुराने माध्यम किताब को कभी नही छोड़ेंगे। आधुनिक तकनीक ने भले ही प्रिंटिंग प्रैस की खोज

कर ली हो, लेकिन कोई भी टेक्नोलॉजी किताबों की जगह नहीं ले सकती। ऐसा इसलिए कि पुस्तक और हमारी देह के बीच एक आदिम और विलक्षण रिश्ता कायम है।' इस अवसर पर चुटकी लेते हुए प्रो. सेरें ने कहाः 'यदि मुझे कोई नई किताब लिखनी हो तो उसका नया नाम होगा- अवर डिफरेंट बुक्स, अवर कॉमन बॉडी।'

ट्रस्ट के अध्यक्ष व कन्नड़ भाषा के महत्त्वपूर्ण कवि डा. सुमतीन्द्र नाडिग ने ट्रस्ट की पाठकों के लिए कई लाभप्रद योजनाओं की जानकारी देते हुए विदेशी लेखक वॉल्ट ह्विटमैन को उद्धृत करते हुए कहाः 'जो लोग मेरी किताबों को छूते हैं, समझिए मुझे छूते हैं।'

प्रतिक्रियाएं

मेले के संबंध में नेशनल बुक ट्रस्ट की संयुक्त निदेशिका तथा मुख्य संपादक डॉ. वर्षा दास का कहना है—

13वां विश्व पुस्तक मेला पिछले 12 पुस्तक मेलों से कुछ कदम आगे ही रहा। उपलब्धियों की सूची काफी लम्बी रहेगी। संक्षिप्त में इतना ही कहूंगी कि मेले की अवधि कम थी, फिर भी इतना बड़ा मेला केवल 48 घण्टे में खड़ा हो गया। मानों किसी ने जादू की छड़ी घुमा दी हो। पूर्व और पश्चिम के दो विद्वानों ने मेले का उद्घाटन किया। सार्क देशों से आये हुए कवि, लेखक एवं प्रकाशकों ने गोष्ठियों में हिस्सा लिया। यहूदी लेखक श्री एब्राहम येहोशुआ ने इज्राइल के संघर्ष और सर्जक की संवेदना की ओर ध्यान आकर्षित किया। ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित अली सरदार ज़ाफरी और नारायण रेड्डी ने सर्जन को समाज और सृष्टि से जोड़ा। इतना ही नहीं, पहले कभी नही हुई ऐसे विषयों पर बड़े ऊँचे स्तर की बातचीत हुई। विषय थे—"एशियाई देशों के आपसी संबंध, सामाजिक एवं राजनैतिक पर्यावरण पर साहित्य का प्रभाव", "सार्वत्रीकरण एवं एशियाई प्रकाशनों पर इसका प्रभाव" एवं "एशिया अगले हजार वर्षों में।" जिन विद्वानों ने इन गोष्ठियों में हिस्सा लिया उन सभी ने एशियाई देशों के आपसी संबंधों को दिन प्रतिदिन दृढ़ बनाने की बात कही। सभी का यही कहना था कि राजनीति तथा भौगोलिक सीमाएं हमारी संवेदनशील मानसिकता को बॉध नही सकती। बातें तोड़ने की नही थी, केवल जोड़ने की थी। इस जुड़ाव का माध्यम है मन, और उसकी उपज है पुस्तक। इससे बड़ी उपलब्ध और क्या हो सकती है, जहाँ लोग हर चर्चा को सद्भाव और संवादिता के रूप में ही देखें।"

मेले में घूमते हुए काफी प्रसन्न मुद्रा में हिंदी के वरिष्ठ लेखक प्रो. रामदरश मिश्र ने कहाः 'मेले में काफी भरापन दिखाई दिया। प्रकाशकों की अच्छी बिक्री हुई है। इस बार वे नए प्रकाशन लेकर उतरे हैं। नागरिकों व साहित्यकारों का उत्साह मेले में रौनक की

वृद्धि में सहायक रहा वहीं बड़ी बात इस बार देखने की यह रही कि अधिकांश प्रकाशक पेपरबैक संस्करण लेकर मैदान में थे। आम आदमी की पहुँच में थीं किताबें। किताबों को अनगिनत हाथों से छूता देख दिली खुशी महसूस की।'

हिंदी के वरिष्ठ कवि व प्रमुख साहित्यकार डॉ. कन्हैयालाल नंदन ने कहाः 'सबसे बड़ी बात यह है कि इस बार उत्साह ज्यादा दिखाई दिया। पुस्तक विक्रेताओं से भी पता चला कि पुस्तकें अच्छी मात्रा में बिकी हैं। पुस्तकों की समाज में आवश्यकता के प्रति रुझान देखने को मिला। ऐसे पुस्तक मेले यह सिद्ध करते हैं कि पुस्तकों के प्रति पाठकों की रुचि बरकरार है।'

पहली भारतीय महिला पुलिस अधिकारी श्रीमती किरण बेदी ने तपाक से कहाः 'इस बार मेला पहले से बड़ा है। किताबें ज्यादा है। किताबों को देखना अच्छा लगता है।'

कथाकार पंकज बिष्ट का मानना था कि मेला तो मेला ही है, बढ़िया लग रहा है। मेले की अवधि कम है। फिर भी पाठकों का पुस्तकें खरीदना अच्छा संकेत हैं। डॉ. रणजीत साहा ने अपनी बात कुछ इस तरह रखीः मेला पहले की अपेक्षा अनौपचारिक है। प्रकाशकों की सरकारी खरीद का मोहभंग भी खत्म हुआ है। कुल मिला कर हमारा प्रकाशन पाठक केंद्रित नही है। मेले में धार्मिक पुस्तकों की कमी रही। पाठकों को बाइबिल की प्रति पच्चीस रुपए में उपलब्ध थी।

लेखक व दिशा प्रकाशन के संचालक श्री कुमार नरेन्द्र ने कहाः 'मेले में आकर व्यापक मंच मिला है। मैं मेलों से कभी निराश नहीं हुआ बल्कि मुझे हमेशा ऐसे आयोजनों से ऊर्जा मिली है।' चर्चित हिंदी कवि श्री दिविक रमेश ने कहाः 'मेले में लोकार्पण जरूरत से ज्यादा हो रहे हैं। पुस्तकों ने जरूर प्रभावित किया है।' दूसरी ओर वरिष्ठ कथाकार श्री रमेश उपाध्याय को मेला पसंद आया। हिंदी के अनगिनत रचनाकारों की ऐसी सूची है जो आठ दिवसीय इस पुस्तक महाकुंभ में रोज डुबकी लगाने आये और तर गए।

मेले में साहित्यिक पत्रिकाएं भी आकर्षण का केंद्र थीं, जिनमें प्रमुख थींः 'वर्तमान साहित्य' 'वैचारिक संकलन', 'साक्षात्कार' और शिमला से प्रकाशित 'विपाशा'।

संगोष्ठी

'एशियाई देशों में आपसी संबंधों की आवश्यकता' विषयक संगोष्ठी में पाकिस्तान की कवयित्री सुश्री किश्वर नाहिद ने भारत की पारंपरिक संस्कृति के ही उदाहरण प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा कि भारत की फिल्में, पहनावा, खान-पान सभी कुछ तो वही है। दूसरे प्रतिभागी थे बांग्लादेश के श्री मोइनुद्दीन अहमद। उन्होंने कहाः पूरी दुनिया का साहित्य बिना किसी अवरोध के बांग्लादेश में सुलभ हो जाता है। संगोष्ठी में अन्य प्रमुक

वक्ताओं में थे, प्रो. अमरीक सिंह, श्री अबुल हसन, विदुषी कपिला वात्स्यायन व श्री कर्तार सिंह दुग्गल।

अखिल भारतिय साहित्य परिषद् द्वारा आयोजित 'वर्तमान समय में साहित्यकार की भूमिका' विषय पर बोलते चर्चित उपन्यासकार डा. नरेन्द्र कोहली ने कहाः 'रचनाकार संत होता है, और ऐसा तब होता है जब शब्द उसके आचरण में स्थान पाते हैं।' गोष्ठी में अन्य वक्ताओं में थे, श्री जगदीश चतुर्वेदी व डा. कमल किशोर गोयनका।

साहित्यिक एजेंट, लेखक, प्रकाशक और मीडिया के संबंधों और उसकी भूमिका विषयक संगोष्ठी का आयोजन इंडियन सोसाइटी ऑफ आथर्स ने प्रगति सभागार में किया। गोष्ठी में ब्रिटेन लिटरेरी एजेंट श्री गाइल्स गार्डन, भारत में ब्रिटिश पब्लिकेशन सोसाइटी के संयोजक श्री सुब्रत भट्टाचार्य, सुश्री उर्वशी बुटालिया इत्यादि प्रमुख थे। गोष्ठी के आरंभ में हिंदी कथाकार श्री श्रवण कुमार ने कहाः हिदी जगत में इस तरह की एजेंट की परिकल्पना भी सोची नहीं गई है। ब्रिटेन में इस तरह के एजेंट काफी सक्रिय हैं इस बात से भी उन्होंने इन्कार नहीं किया। अन्य वक्ता श्री गार्डन ने कहाः 'बड़ी हैरानी की बात यहाँ दिखती है कि इस देश में अन्य देशों की तुलना में अधिक किताबें प्रकाशित होती हैं फिर भी यहॉ पुस्तक संस्कृति विकसित नहीं हुई।' उर्वशी बुटालिया ने भी लिटरेरी एजेंट की भूमिका पर गंभीर रूप से विचारने पर बल दिया।

नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा आयोजित 'सामाजिक एवं राजनैतिक पर्यावरण का साहित्य पर प्रभाव' विषयक संगोष्ठी में हिंदी के कवि आलोचक श्री अशोक वाजपेयी ने कहाः 'साहित्य व्यक्ति लिखता है, समाज नहीं। कोई समाज एक व्यक्ति को अध्यापक तो बना सकता है लेकिन उसे कवि नहीं बना सकता। हैदराबाद में अमरीकी स्टडीज़ की प्राध्यापिका सुश्री केरोलिन इलिएट का मानना था कि साहित्य इतिहास नही है, वह खुद इतिहास है, इसलिए उसे उसी रूप में पढ़ना चाहिए। इस संगोष्ठी में प्रो. ए.पी. पाद्यी, श्री रशीद हैदर (बांग्लादेश) मोहम्मद जमां अजुरदाह (कश्मीर) ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

'सार्वत्रीकरण तथा एशियाई प्रकाशनों पर इसका प्रभाव' विषयक संगोष्ठी में पाकिस्तान के विख्यात शायर श्री अहमद फराज ने विकासमान समाज पर आधुनिकीकरण और इलेक्ट्रानिक मीडिया के प्रभाव व प्रकोप पर गहरी चिंता प्रकट की। संगोष्ठी में अन्य वक्ताओं में प्रमुख थे प्रो. आशीष नंदी, श्री नरेन्द्र कुमार, प्रो. सव्यसाची भट्टाचार्य व श्री मोहियुद्दीन अहमद। संगोष्ठी का आयोजन नेशनल बुक ट्रस्ट ने किया था।

'लेखक से मिलिए' कार्यक्रम में ब्रिटिश उपन्यासकार, ए.एल. केनेडी, फार्रुख ढोंडी और शीना मेकाय ने उपस्थित श्रोताओं को अपने उपन्यासों के अंश सुनाए। फार्रुख ढोंडी ने अपनी प्रकाशित पुस्तक 'पूना कम्पनी' के रोचक किस्से सुनाए। सुनने वाली सैकड़ों

युवतियां मंत्र-मुग्ध होकर उपन्यास के अंशों का आनंद लेती रहीं। एक अन्य कार्यक्रम में इस्राइली लेखक अब्राहम बी येहोशुआ ने अपने लेखन से संबंधित अनौपचारिक बातचीत में पाठकों से तारतम्य स्थापित किया।

'डिजिटल पब्लिशिंग' विषय पर केंद्रित संगोष्ठी का मेले में आयोजन रखा गया। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाश शंघ द्वारा आयोजित स्वतंत्रता के पचास वर्ष एवं हिंदी प्रकाशन विषय पर बोलते हुए प्रो. रामदरश मिश्र ने कहाः 'आज हिन्दी प्रकाशन का परिदृश्य बहुत अच्छा है। प्रकाशक व लेखक के बीच मधुर संबंधों पर मिश्र जी ने जोर दिया। उन्होंने यह भी कहा कि इस अंतराल में हिंदी का विकास पहले से कहीं अधिक हुआ। लेखकों को अपनी भावना शुद्ध रखनी चाहिए तभी वे अपने पाठकों को सत्य से साक्षात्कार करा पाने में समर्थ हो सकेंगे। गोष्ठी में अन्य वक्ताओं में थे कथाकार श्रीमती मृदुला सिन्हा, डा. गंगा प्रसाद विमल, प्रभात प्रकाशन के संचालक श्री श्याम सुन्दर। संगोष्ठी की अध्यक्षता दैनिक हिंदुस्तान के संपादक श्री आलोक मेहता ने की।

कवि सम्मेलन

नेशनल बुक ट्रस्ट ने मेले में हिंदी व ऊर्दू कवि सम्मेलन के आयोजन किया। हिंदी कवि सम्मेलन में प्रमुख कवि थे श्री केदार नाथ सिह, श्री उपेन्द्र कुमार, कात्यायनी, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, आलोक धन्वा, गंगा प्रसाद विमल, विनोद कुमार शुक्ल व अशोक वाजपेयी। कवि सम्मेलन का आनंद कविता प्रेमियों ने मंत्र-मुग्ध होकर लिया। वहीं अगले दिन ऊर्दू कवि सम्मेलन में मखमूर सईदी, मलका नसीम, जमीला बानो, हयात लखनवी, नूरजहां सर्वत, बलराज कोमल व शहरयार प्रमुख थे।

विभिन्न भाषाओं में लिख रही कवयित्रियों का कवयित्री सम्मेलन का आयोजन संयुक्त रूप से नेशनल बुक ट्रस्ट व साहित्य अकादेमी ने आजाद भवन में किया। प्रमुख कवयित्रियों में बांग्ला की मलिका सेनगुप्ता, हिंदी की गगन गिल, अंग्रेजी की रुक्मिनी माया नायर, गुजराती की उषा उपाध्याय, कन्नड की एस. आर. कमला, मलयालम की सावित्री राजीवन, उड़िया की प्रवासिनी महाकुड तिवारी, पंजाबी की वनीता, तेलुगु की प्रति वंदला रजनी, और उर्दू की तरन्नुम रियाज़ शामिल थीं। □

रचनाकार

अटल बिहारी वाजपेयी

प्रधानमंत्री, भारत सरकार, रेसकोर्स रोड, नई दिल्ली—110001

बाल्मीकि प्रसाद सिंह

गृह सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली-110001

पद्मचन्द्र कश्यप

3, मैत्री अपार्टमैंट्स ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

हरीश नवल

65, साक्षर अपार्टमैंट्स ए-3 पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

पूरनचंद टंडन

भारतीय अनुवाद परिषद, 24 स्कूल लेन, बंगाली मार्केट, नई दिल्ली-110001

सुदर्शन मजीठिया

बी-7-50/ सफदरजंग एनक्लेव एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110029

रणजीत साहा

उपसचिव, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-110001

महाश्वेता देवी

18 ए बालीगंज, स्टेशन रोड, कलकत्ता

डॉ. रामदरश मिश्र

आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

महेश दर्पण

सी-3/51 सादतपुर, दिल्ली-110034

तरसेम गुजराल

46 हरबंस नगर, जालंधर-2

रवीन्द्र नाथ त्यागी

शमशेर हाउस 1/1 गरु तेग बहादुर रोड–II, देहरादून–248001

गिरीश पाण्डे

2/7 बटलर पैलेस कॉलोनी, लखनऊ

भीष्म साहनी

8/30, ईस्ट पटेल नगर, दिल्ली–110008

प्रेम जनमेजय

73, साक्षर अपार्टमैंट्स ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली–110063

विजय किशोर मानव

ए-34, अरुणा पार्क, शकरपुर दिल्ली-110092

डॉ. सुनीता शर्मा

7/सी-7/230 रोहिणी, नई दिल्ली-110058

हरिशंकर 'आदेश'

18, शुगर बुश स्कवायर, वैस्ट हिल, ओनटारियो—मिक–3M7 कनाडा

उर्मिल मेहता

सरदार पटेल विद्यालय, लोदी एस्टेट, नई दिल्ली-110003

ज्योति खरे

आर.बी.वन. 291/स एस.के.पी. कॉलोनी नई कटनी-483501 (म.प्र.)

जसवंत सिंह माथुरी

236, कर्म अली, जाटव गेट, मेरठ शहर

विष्णु प्रभाकर

818, कुंडेवालान दिल्ली-110006

रमेश ऋषिकल्प

521, पाकेट-2, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

रवीन्द्र नाथ राय
जगदेवनगर, आरा भोजपुर (बिहार)

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय
वृंदावन, राजेंद्र पथ, धनबाद-826001

उमा शंकर मिश्र
68, तुराब नगर गाजियाबाद–201001

नीलम श्रीवास्तव
45, गोखले विहार मार्ग लखनऊ–226001

नाहर सिंह वर्मा
बी/के-68 (पश्चिम) शालीमार बाग, दिल्ली-110052

अखिलेश कुमार
19, डी, शेख सराय-II, नई दिल्ली–110017

डॉ. उल्फत मुखीबोवा
ताशकंद राजकीय प्राच्य विद्या संस्थान, लाहूती–25, ताशकंद–700047 (उज्बेकिस्तान)

लालित्य ललित
बी-3/43, शकुंतला भवन, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

फार्म 4

[नियम 8 देखिए]

1.	प्रकाशन स्थान	भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट नई दिल्ली-110002
2.	प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
3.	मुद्रक का नाम (क्या भारत का नागरिक है) (यदि विदेशी है तो मूल देश) पता :	हिमाचल सोम हॉ भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट नई दिल्ली-110002
4.	प्रकाशक का नाम (क्या भारत का नागरिक है) (यदि विदेशी है तो मूल देश) पता :	हिमाचल सोम हॉ भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट नई दिल्ली-110002
5.	संपादक का नाम (क्या भारत का नागरिक है) (यदि विदेशी है तो मूल देश) पता :	कन्हैयालाल नंदन हॉ भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट नई दिल्ली-110002
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	हिमाचल सोम महानिदेशक भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट नई दिल्ली-110002

मैं हिमाचल सोम एतत द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

प्रकाशक के हस्ताक्षर

दिनांक 28-2-1998